गिरनार तिर्थोद्धारक प.पू.आ. विजय नीति-हर्ष-महेन्द्र,-मंगल-अरिहन्त-हेम प्रभ सूरि गुरूभ्यो नमः ।।

।। आगम ज्ञाता पंन्यास प्रवर कस्तुरविजयजी सद्गुरुभ्यो नमः ।।

तपागच्छाधिपति प.पू.आ. विजय रत्नशेखरसूरीश्वर विरचित

।। श्री व्यवहारशुद्धिप्रकाशः ।।

संपादक :- मरुधर मणि मुनिश्री राजतिलक विजयजी म.सा.

सह संपादक :- पंडितवर्य कनकराजजी फालना

प्रेरक :- युवामुनि मोक्षतिलक विजयजी म.सा.

-: प्रकाशक :-

नीति सूरि आराधना भवन

लुहार की पोल, माणेक चौक, अहमदाबाद

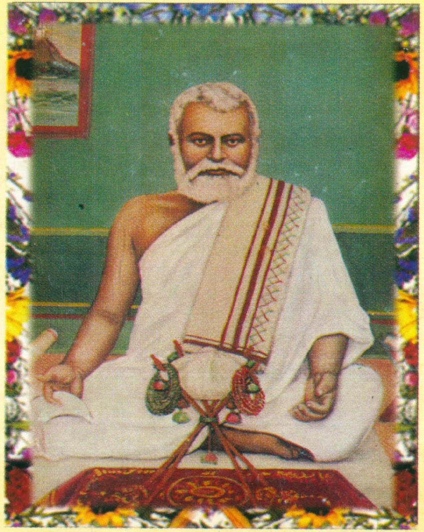

परम पूज्य आचार्य देव श्री नीतिसूरीश्वरजी म.सा.

गिरनार तिर्थोद्धारक प.पू.आ. विजय नीति-हर्ष-महेन्द्र,-मंगल-अरिहन्त-हेम प्रभ सूरि गुरूभ्यो नमः ।।

।। आगम ज्ञाता पंन्यास प्रवर कस्तुरविजयजी सद्गुरुभ्यो नमः ।।

तपागच्छाधिपति प.पू.आ. विजय रत्नशेखरसूरीश्वर विरचित

।। श्री व्यवहारशुद्धिप्रकाशः ।।

संपादक :- मरुधर मणि मुनिश्री राजतिलक विजयजी म.सा.

सह संपादक :- पंडितवर्य कनकराजजी फालना

प्रेरक यवामुनि मोक्षतिलक विजयजी म.सा.

-: प्रकाशक :-

नीति सूरि आराधना भवन

लुहार की पोल, माणेक चौक, अहमदाबाद

प्राप्ति स्थान

श्री आदिनाथ जैन पेढी

मु.पो. तखतगढ (राज.)

नीतिसूरि आराधना भवन

लुहार की पोल, माणेक चौक

अहमदाबाद (गुज.)

श्री लुणावा मंगल भवन

तलाटी रोड़, पालीताणा

(सौराष्ट्र)

मास्टर कनकराज जैन

कमल निवास, नेहरू बस्ती

फालना (राज.)

वि. 2067-68 वैशाख सुद 3 (अक्षय तृतीया), ई.सं. 2011

विषय अनुक्रमणिका

क्र.सं.	विषय	पृष्ट संख्या
1.	मंगलाचरण	1
2.	आजीविकाया: सप्तोपाया:	3
3.	वाणिज्यविधि:	14
4.	पुत्र शिक्षायां मुग्धकदृष्टान्त:	15
5.	ऋणसम्बंधे भावडदृष्टान्त:	19
6.	न्याय करणे श्रेष्ठि पुत्र दृष्टान्त:	24
7.	व्यवहारशुद्धया लाभे हेलीकश्रेष्ठिकथा	25
8.	विश्वस्तवञ्चने विसेमिराकथा	26
9.	सत्ये महणसिंहदृष्टान्त:	31
10.	सत्ये भीम सौवर्णिक दृष्टान्त:	32
11.	असाक्षिन्यासकर्तृ धनेश्वरश्रेष्ठि दृष्टान्त:	34
12.	परदेश गमनादिनीतय:	38
13.	पापर्द्धौ दृष्टान्त:	40
14.	लोभिविवेकिनो: परीक्षायां नववधू दृष्टान्त:	44
15.	धर्मकरणे बहुधनागमे विद्यापतिश्रेष्ठि दृष्टान्त:	45
16.	न्यायान्यायधने देवयशोमित्रद्वय दृष्टान्त:	46
17.	अन्यायोपार्जितवित्ते रंकश्रेष्ठि दृष्टान्त:	48
18.	व्यवहारशुद्धिर्धर्मस्यमूलम्	53
19.	देशकालनृपलोक धर्मादिविरुद्धत्याग:	54
20.	नवविधौचित्यम्	60
21.	समयोचित वचनेऽम्बड मन्त्रि दृष्टान्त:	74
22.	मूर्ख शतकम्	75
23.	अपलक्षणानि	76
24.	नीतिवाक्यानि	78
25.	व्यहारशुद्ध्यादिना द्रव्योपार्जने धनमित्र दृष्टान्त:	82
26.	परोपकारि स्वरूपम्	84
27.	तदुपरि विक्रमादित्य दृष्टान्त:	85
28.	षडन्तरङ्गारिस्वरूपम्	86
29.	इन्द्रियस्वरूपम्	96

हृदयोद्गार–दो शब्द

इस विषम काल में परमात्मा की अनुपस्थिती में परमात्मा की वाणी ही संसार से तैरने का परम साधन है। महापुरूषों ने बालजीवों के हित के लिए कई ग्रन्थों की रचना की है। उसमें से यह एक ग्रन्थ भी तपागच्छाधिराज आ. विजय रत्नशेखर सूरीजी द्वाराविरचित अति उपयोगी ग्रन्थ है।

परम पू. गुरूदेव पं. प्रवर श्री कस्तुरविजयजी म.सा. के ज्ञान संग्रह में से यह प्रत्त देखने को मिली । प्रत हाथ में आते ही आद्योपान्त पढने की भावना हुई । पश्चात इसकी वर्तमान काल के जीवों के लिए अति आवश्यकता लगी । मैनें मेरा विचार मुनि मोक्षतिलक विजय के सम्मुख रखा उन्होंने सहर्ष इसे पुनः मुद्रण हेतु इच्छा दर्शाई मैने कहा किमेरे लिए अर्थ की व्यवस्था अशक्य है। किन्तु मुनिश्री ने अपने प्रवचन में तखतगढ संघ के सम्मुख अपनी भावना रखी । संघ ने एक ही प्रवचन में कार्य पूरा कर दिया।

प्रेस संबंधी सारा कार्य मेरे ज्ञानदाता पं. कनकराजजी फालना वालों ने संभाला प्रिन्टींग का सारा कार्य व्यवस्थापक पंकज प्रिन्टर्स फालना वालों ने समय पर कर दिया सो साधुवाद के पात्र है ।

पूर्व में यह ग्रन्थ आ. विजय महेन्द्रसूरीजी के शिष्य विनोदविजयजी के उपदेश से तखतगढ निवासी शेठ जवानमलजी पेराजमलजी तथा उमाजी वरदाजी की आर्थिक सहायता से छपवाया गया था इस ग्रन्थ में कोई त्रुटि रह गई हो तो वाचक हमें जानकारी देवे ताकि भविष्य में इसका सुधारा किया जा सके ।

संपादक

दो शब्द

परम पूज्य आचार्य भगवंत श्री रत्नशेखर सूरीजी द्वारा रचित "श्री व्यवहारशुद्धिप्रकाश" नामक ग्रन्थ प्रत्येक मानव के लिए उपयोगी है। इसमें आजीविका के उपाय, व्यापार विधि, पुत्र शिक्षा, इन्द्रिय स्वरूप, अन्तर शत्रु, द्रव्योपार्जनादि में व्यवहार की शुद्धि, अन्याय से उपार्जित धन से हानि आदि अनेक बातों का उदाहरण सहित वर्णन किया हैं। जिससे आम व्यक्ति इन उदाहरणों से अपने जीवन में आने वाली बाधाओं से सावधान रहकर अपना जीवन अच्छा बना सकता है।

कम पापारंभ से अपने व्यवहार को कैसे चलाया जाता है। किसके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, किससे बचकर रहना चाहिए। आदि व्यवहारिक बातों को पढ़कर व्यक्ति अपना जीवन मानवोचित बनाने का प्रयास कर सकता है। इसी बात को ध्यान में रखकर पू. मुनि राजतिलकविजयजी के शिष्य पू. मोक्ष तिलकजी ने इसे पुनः मुद्रण कराने की आवश्यकता महशुस की।

आशा है इस को पढ समझकर प्रत्येक लाभ उठावे।

लि.

कनकराज जैन फालना (राज.)

समर्पण

गिरनार-चितौडगढ़-तारंगा आदि अनेक तिर्थोद्धारक-धर्मपुर नरेश प्रतिबोधक रूपविजयजी म.सा. के संवेगी पाट के प्रथम आचार्य बालब्रह्मचारी, स्वनाम धन्य प.पू.आ. श्रीमद्विजय नीति सूरीश्वरजी म.सा. एवं आगम ज्ञाता, सेवा तत्पर पंन्यास प्रवर कस्तुरविजयजी म.सा. के कर कमलों में समर्पित-

मुनि राजतिलक विजय

सहयोग दाताओं की शुभ नामावली

मरुधर मणि मुनिश्री राजतिलकविजयजी म.सा. के 88 वें जन्म दिन प्रवेश निमित्ते युवा मुनि मोक्ष तिलक विजयजी के सदुपदेश से श्रुतज्ञान भक्ति में श्रुतज्ञानोपासक, उदारमना सहयोग दाताओं की शुभ नामावली-

1. श्रीमती रूपीबाई कान्तिलालजी तखतगढ
2. श्रीमान् कान्तिलालजी भूरमलजी तखतगढ
3. श्रीमान् सोनमलजी हंजारीमलजी हाण्डा तखतगढ
4. श्रीमान् पारसमलजी ताराचंदजी तखतगढ
5. श्रीमान् हीरालालजी माणेकचंदजी तखतगढ
6. श्रीमान् चम्पालाली माणेकचंदजी तखतगढ
7. श्रीमान् रमेशचंदजी माणेकचंदजी तखतगढ
8. विद्याशाला की बहिनों के तरफ से तखतगढ
9. श्रीमान् जयंतिलालजी जेठमलजी चांदराई
10. श्रीमान् हस्तिमलजी नथमलजी गुडा बालोतान्

।। गिरनार मण्डन नेमिनाथाय नमः ।।

।। ॐ ह्रीं श्री शंखेश्वरपार्श्वनाथाय नमः ।।

तपागच्छाधिराज आचार्य श्री रत्नशेखरसूरीश्वरविरचित-

विजय नीति-कस्तुर ग्रन्थ माला नं. 1

।।श्री व्यवहारशुद्धिप्रकाशः।।

मंगलाचरणम्

स्वामिन् विश्वस्यशेषमनिशं कारुण्यवारां निधे।
तन्मां नाथ ! कथं पासि भगवन् ! रक्ष्योऽस्म्यहं सेवकः।।
जल्पन्नेवमिवांह्रिपीठमभजन्नागो यदंकछलात्
स श्रीपार्श्वजिनेश्वरः शिवकरस्तात् ! पार्श्वयक्षाश्रितः।।1।।

"ववहारसुद्धिधम्मरस मूलं सव्वण्णु भासए। ववहारेणं तु सुद्धेणं अत्थसुद्धि जओ भवे ।।1।।
सुद्धेणं चेव अत्थेणं आहारो होइ सुद्धओ। आहारेणं तु सुद्धेणं देहसुद्धि जओ भवे ।।2।।
सुद्धेणं चेव देहेणं धम्मजुगस्स जायइ। जं जं कुणइ किच्चं तु तं तं सहलं भवे ।।3।।

व्यवहारशुद्धिलक्षणं द्वारं विवक्षुः प्राह-

ववहारसुद्धिदेसाइविरूद्धचायउचिअचरणेहिं। तो कुणइ अत्थचिंतं, निव्वाहिंतो निअं धम्मं ।।1।।

ततः प्रागुक्तकृत्यानन्तरं व्यवहारस्य धनार्जनाद्युपायस्य शुद्धिर्निर्दोषता मनोवाक्कायावक्रतेत्यर्थः। तथा देशादिविरुद्ध-कृत्यानां त्यागः परिहारः । उचितकृत्याचरणं च, एभिस्त्रिभिरपि वक्ष्यमाणलक्षणैर्निजं धर्मं स्वीकृतवृताभिग्रहादिरूपं निर्वाहयन् न तु क्वचन किञ्चनापि लोभाधिक्यविस्मृत्यादिना बाधयन्, अर्थचिन्तां धनार्जनाद्यौपयिकं करोति। यदाह-

"नहि तद्विद्यते किञ्चद्यदर्थेन न सिद्ध्यति। यत्नेन मतिमांस्तस्मादर्थमेकं प्रसाधयेत् ।।"

अत्र चार्थचिन्तामित्यनुवाद्यं, तस्याः स्वयं सिद्धत्वात्, धर्मं निर्वाहयन्निति तु विधेयमप्राप्तत्वात्। तदुक्तम्-

"इह लाईअंमि कज्जे, सव्वारंभेण जह जणो तणई। तह जइ लक्खंसेण वि, धम्मे ता किं न पज्जतम् ।।1।।

आजीविका च सप्तभिरूपायैः स्यात्-वाणिज्येन, विद्यया, कृष्या, पाशुपाल्येन, शिल्पेन, सेवया, भिक्षया च। तत्र वाणिज्येन वणिजां विद्यया वैद्यादीनां, कृष्या कौटुम्बिकादीनां, पाशुपाल्येन गोपालाजापालादीनाम्, शिल्पेन चित्रकारादीनाम्, सेवया सेवकानाम् भिक्षया भिक्षाचराणाम् ॥

तत्र वाणिज्य - घन्य - घृतं - तलै - कर्पास - सूत्र - वस्त्र - धातु - मणि - मौक्तिक - नाणकादिक्रयाणकभेदैरनेकविधम्। लोके हि षष्ट्यधिका त्रिशती क्रयाणकानि इति प्रसिद्धिः। भेदप्रभेदादिव्यक्तिविवक्षायां त्वलब्धसंख्यान्यपि तानि। कलान्तर-व्यवहारोऽपि वाणिज्येऽन्तर्भवति। विद्याप्यौषध - रस - रसायण-चूर्णाञ्जन-वास्तु-शकुन-निमित्त-सामुद्र-चूडामणि-धर्मार्थकाम-ज्योतिस्तर्कादिभेदैर्नानाविधा। इह वैद्यविद्या गान्धिकत्वं च प्रायो दुर्ध्यानसम्भवादिना विशेषगुणाय न दृश्येते। यद्यपि स धनमान्द्यादौ वैद्यगान्धिकयोर्भूरिलाभः स्थाने स्थाने बहुमानादि च स्यात्। यतः- ''आतुरे हि पिता वैद्यः।'' तथा-

''रोगिणां सुहृदो वैद्याः, प्रभूणां चाटुकारिणः। मुनयो दुखदग्धानां, गणकाः क्षीणसंपदाम् ।।1।।
पण्यानां गान्धिकं पण्यं, किमन्यैः काञ्चनादिकैः। यत्रैकेन। गृहीतं यत्तत्सहस्त्रेण दीयते ।।2।।

तथापि यस्य यथा लाभः य प्रायस्तथैवेहते! तदुक्तम् -

''विग्रहमिच्छन्ति भटा, वैद्या श्च व्याधिपीडितं लोकम्। मृतकबहुलं च विप्राः, क्षेमसुभिक्षं च निर्ग्रन्थाः ।।1।।

आजीविकाना सात प्रकार

यो व्याधिभिर्ध्यायति बाध्यमानं, जनौघमादातुमना धनानि।
व्याधीन् विरुद्धौषधतोऽस्य वृद्धिं, नयेत् कृपा तत्र कुतोऽस्तु वैद्य ।।2।।

केचिच्च दर्शने दरिद्रानाथम्रियमाणादिभ्योऽपि प्रसह्य द्रव्यं जिघृक्षन्ति। अभक्ष्यौषधाद्यपि कारयन्ति। विविधौषधादिक- पटवृत्त्या जनान् विप्रतारयन्ति। द्वारवतीवैद्याभव्यधन्वन्तरिवत्। ये तु सत्प्रकृतयः स्वल्पलोभाः परोपकारिणस्तेषां वैद्यविद्या श्री ऋषभस्वामिजीवानन्दवैद्यवद् भवद्वयेऽपि गुणाय 2।
कृषिर्जलदजलकूपादिजलोभयजलनिष्पाद्यभेदात् त्रिविधा 3।

पाशुपाल्यं गो-महिष्यजा-करभ-वृषभ-हय-गजा-जीविकादिभेदादनेकप्रकारम् 4। कृषिपाशुपाल्ये च न विवेकिजनोचिते। उच्यते हि-

"रायणदंतिदंते बइल्लखंधेसु पामरजणाणम् सुहडाण मंडग्लग्गे, वेसाण पओहरे लच्छी ।।1।।"

अनिर्वहंस्तु यदि कुर्यात् तदा वापकालाद्याकलनदयालुत्वादि घार्यम्। यदाह-

"वापकालं विजानाति, भूमिभागं च कर्षकः। कृषिं साध्यां पथि क्षेत्रम् य श्चोज्झतिसवर्द्धते ।।1।।
पाशुपाल्यं श्रियो वृद्धयै, कुर्वन्नोज्झेद्दयालुताम्। तत्कृत्येषु स्वयं जाग्रच्छविच्छेदादि वर्जयेत् ।।2।।"

शिल्पं शतधा। यतः -

"पंचेव य सिप्पाइं, घडलोहे चित्तऽणंत कासवए। इक्किक्कस्स य इत्तो, वीसंवीसं भवे भेआ ।।1।।

व्यक्तिविवक्षया त्वधिकभेदमपि शिल्पं स्यात्। इह चाचार्योपदेशजं शिल्पं ऋषभस्वाभ्युपदेशेन प्रवृत्तत्वात्। आचार्योपदेशं विना परंपरया प्रवृत्तं तु कृषिवाणिज्यादि कर्मोच्यते। यदार्षम्।

"कम्मं जमणायरिओवएसियं सिप्प मन्नहाऽभिहिअं। किसिवाणिज्जाइअं घडलोहाराइ भेअंच ।।1।।

अत्र कृषिवाणिज्यपाशुपाल्यानि साक्षादुक्तानि। शेषकर्माणि प्रायः सर्वाणि शिल्पादौ। स्त्रीपुरूषकलास्तु काच्चिद् विद्यायां, काश्चिच्च शिल्पेष्वन्तर्भवंति। कर्म च सामान्यतश्चतुर्भेदम्। यदाह-

"उत्तमा बुद्धिकर्माणः करकर्मा च मध्यमः। अधमाः पादकर्माणः, शिरःकर्माधमाधमः ।।1।।

बृद्धिकर्मत्वे ज्ञातम्। यथा-

चम्पायां श्रेष्ठिधनसुतो मदनो विशिष्टे बुद्धिहट्टे 'यत्र द्वौ कलहायेते तत्र न स्थेयमि' ति बुद्धिं द्रम्मप-ञ्चशत्या गृहीत्वा मित्रोपहासे पित्रा भर्त्सितः। 'स्वधनं लातु बुद्धेः पश्चादर्पणे दौ यत्र कलहायेते तत्र स्थेयमेवेति तेन स्वीकारिते नृपभट्टयोः पथि कलहे पार्श्वे स्थितः, ताभ्यां साक्षीकृतो नृपेण तयोर्न्यायन्वेषणे साक्ष्याकारणे त्वत्सुतो मद्वित्तं साक्ष्यं यदि न वक्ष्यति, तदा तवानर्थो भावीति द्वाभ्यां भापितो धनाऽत्याकुलः स्वसुतं ग्रहिलं कुर्विति बुद्धिं बुद्धिदात्कोट्या लात्वा सुखी जज्ञे' इति बुद्धौ कथा।

करकर्मा वाणिज्यादिकृत्, पादकर्मा दूतादिः, शिरःकर्मा भारवाहकादिः ५ । सेवा नृपतिनियोगिमहेभ्येतरसेवा भेदाचतुर्भेदा । नृपादिसेवा च नित्यपारवश्यादिना येन तेन दुःसाध्या यतः-

''मौनान्मूकः प्रवचनपटुर्वातिको जल्पको वाधृष्टः, पार्श्वे भवति च तथा दूरत श्चाप्रगल्भः ।
क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः, सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ।।1।।
परमत्युन्नतिहेतोर्जीवितहेतोर्विमुञ्चति प्राणान् । दुःखीयति सुखहेतोः को मुर्खः सेवकादन्यः ।।2।।
सेवा श्ववृत्तियैरुक्ता न तैः सम्यगुदाहृतम् । श्वानः कुर्वन्ति पुच्छेन, चाटु मुर्ध्ना तु सेवकाः ।।3।।

एवं सत्यप्यन्यनिर्वाहोपायाभावे सेवयापि निर्वाहं करोति । यत :-

''धणवं वाणिज्येणं, थोवधणो करिसणेण निव्वहइ । सेववित्तीइ पुणो, तट्टे सयलंमि ववसाए।।1।।''

विज्ञत्वकृतज्ञत्वादिगुणवांश्च सेवार्हः । उक्तंहि-

''अकर्णदुर्बलः शूरः कृतज्ञः सात्त्विको गुणी । वदान्यो गुणरागी च, प्रभुःपुण्यैरवाप्यते ।।1।।
क्रूरं व्यसनिनं लुब्धमप्रगल्भं सदामयम् । मूर्खमन्यायकर्त्तारम्, नाधिपत्ये नियोजयेत् ।।2।।
अविवेकिनि भूपाले, करोत्याशां समृद्धये । योजनानां शतं गन्तुं, करोत्याशां समृद्धये ।।3।।''

कामन्दकीये नीतिसारेऽपि-

"वृद्धोपसेवी नृपतिः सतां भवति सम्मतः। प्रेर्यमाणोऽप्यसद्वृत्तैर्नाकार्येषु प्रवर्तते ।।1।।

स्वामिना च सेवकानुरूपं सन्मानादि कार्यम्। यत :-

"निर्विशेषं यदा राजा, समं भृत्येषु वर्तते । तत्रोद्यमसमर्थानामुत्साहः परिहीयते ।।1।।"

सेवकेनापि भक्तिचातुर्यादिगुणयुजा भाव्यम्। यतः -

"अप्राज्ञेन च कातरेण च गुणः स्यात्सानुरागेण कः ?

प्रज्ञाविक्रमशालिनोऽपि हि भवेत् किं भक्तिहीनात्फलम् ?।

प्रज्ञाविक्रमभक्तयः समुदिता येषां गुणा भूतये ।

ते भृत्या नृपतेः कलत्रमितरे संपत्सु चापत्सु च ।।1।।

राजा तुष्टोऽपि भृत्यानां, मानमात्रं प्रयच्छति। ते सन्मानितास्तस्य प्राणैरप्युपकुर्वते ।।2।।"

सेवां च सततमप्रमत्तः कुर्यात्। तदाह -

" सर्पान् व्याघ्रान् गजान् सिंहान्, दृष्ट्वोपायैर्वशीकृतान् ।

राजेति कियती मात्रा धीमतामप्रमादिनाम् ।।1।।

तद्विधिश्च नीतिशास्त्रादावेवम्-

"आसीत् स्वामिनः पार्श्वे, तन्मुखेक्षीकृताञ्जलिः ।स्वभावं चास्य विज्ञाय, दक्षः कार्याणि साधयेत् ।।1।।

नात्यासन्नो न दुरस्थो, न समोच्चासनस्थितः । न पुरस्थो न पृष्ठस्थस्तिष्ठेत्सदसि न प्रभोः ।।2।।

आसन्ने स्यात्प्रभोर्बाधा, दुरस्थेऽप्यप्रगल्भता । पुरस्थितेऽन्यकोपोऽपि, तस्मिन् पश्चाददर्शनम् ।।3।।

श्रान्तं बुभुक्षितं क्रुद्धं, व्याकुलं शयनोन्मुखम् । पिपासुमन्यविज्ञप्तम्, नैव विज्ञापयेद्विभुम् ।।4।।

राजमातरि देव्यां च, कुमारे मुख्यमन्त्रिणि । पुरोहिते प्रतीहारे, वर्तितव्यम् महीशवत् ।।5।।

आदौ मयैवायमदीपि नूनं न तद्दहेन्मामवहीलितोऽपि ।

इति भ्रमादङ्गुलिपर्वणाऽपि स्पृश्येत नो दीप इवावनीपः ।।6।।

राज्ञो मान्यत्वेऽपि गर्वः सर्वथा न कार्यो, गव्वो मूलं विणासस्स' इत्युक्तेः । श्रूयतेऽपि ढिल्ल्यां मान्यप्रधानेन गर्वितेन 'मयैव राज्यं निर्वहति' इति कस्याप्यग्रे उक्तं श्रुत्वा सुरत्राणस्तं निष्कास्यासन्नं चर्मकारं रांपडीहस्तं तत्पदे न्यवीविशत्,

तस्य लेखादौ रांपड्येवाभिज्ञानं, तदन्वयोऽद्यापि मान्योऽस्ति। एवं सेवया च नृपत्यादिप्रसत्तिसम्भवे ऐश्वर्यादिलाभोऽपि न दुःसंभवः। यदूचे -

"इक्षुक्षेत्रं समुद्रश्च, योनिपोषणमेव च। प्रसादो भूभुजां चैव, सद्यो ध्नन्ति दरिद्रताम् ॥1॥

निन्दन्तु मानिनः सेवां, राजादीनां सुखैषिणाः। स्वजनास्वजनोद्धार-संहारौ न तया विना ॥2॥"

कुमारपालनृपो नक्तचर्यायां सम्यक् सेवातुष्टो वोसिरिविप्राय लाटदेशं ददौ। जितशत्रुनृपो यामिकाय राजपुत्रदेवराजाय सर्पोपद्रवटालनतुष्टः स्वराज्यं दत्त्वां प्रव्रज्य सिद्धः। मन्त्रिश्रेष्ठिसेनान्यादिव्यापारश्च सर्वोऽपि नृपसेवायामन्तर्भवति, स च पापमयत्वात् पर्यन्तविरसत्वाच्च मुख्यवृत्त्या श्रावकेण वर्जनीयः। वदन्ति च।

"नियोगे यत्र यो मुक्त-स्तत्र स्तेयं करोति सः। किं नाम रजकः क्रीत्वा, वासांसि परिधास्यति ॥1॥

अधिकाधयोऽधिकाराः, कारा एवाग्रतः प्रवर्तन्ते। प्रथमं न बन्धनं तद-नुबंधनं नृपनियोगजुषाम् ॥2॥"

सर्वप्रकारं च नृपव्यापारं त्यक्तुमशक्तोऽपि गुप्तिकालकोट्टपालसीमापालादिव्यापारमत्यन्तपापमयं निर्स्त्रिशजनोचितमास्तिकस्त्यजेदेव। यदुक्तम्-

"गोदेवकरणारक्ष-तलावर्तपट्टकाः। ग्रामोत्तर श्च न प्रायः, सुखाय प्रभवन्त्यमी ॥1॥

❖प्रधान, सेनापति, नगरशेठ, कोटवाल।

शेषमपि व्यापारं यदि स्वीकुर्यात्तदा मन्त्रिवस्तुपालसाधुश्रीपृथ्वीधरादिवत्सुकृतकीर्त्येकमयं कुर्यात् । यद्वदन्ति-

"नृपव्यापारपापेभ्यः, स्वीकृतं सुकृतं न यैः । तान् धूलिधावकेभ्योऽपि, मन्ये मूढतरान्नरान् ।।1 ।।

प्रभोः प्रसादे प्राज्येऽपि, प्रकृतीर्नैव कोपयेत् । व्यापारित श्च कार्येषु, याचेताध्यक्षपूरुषम् ।।2 ।।

एवं विधिनापि सम्भवे सेवा सुश्रावकस्यैव नृपादेरूचिका । यतः -

"सावयघरंमि वर हुज्ज, चेडओ नाणदंसणसमेओ । मिच्छत्तमोहिअमई, मा राया चक्कवट्टी वि ।।1 ।।

जात्वन्यथा निर्वाहाभावे सम्यक्त्वप्रतिपत्तौ 'वित्तीकंतारेण' इत्याकारकरणान्मिथ्यादृशोऽपि यदि सेवां कुर्यात्तदापि यथाशक्ति युक्तिस्वधर्मबाधां टालयति । अन्यप्रकारेण स्वल्पेऽपि निर्वाहयोगतु तत्सेवामपित्यजति 6 । भिक्षा धातुधान्यवसनादिभैक्ष्यभेदादनेकभेदा । तत्र च ाम्र्मोपष्टम्भमात्रहेतुराहारवस्त्रपात्रा-दिभिक्षासर्वसङ्गप-रित्यागवतामौचितीमञ्चति । यदुच्यते

"प्रतिदिनमयत्नलभ्ये ! भिक्षुकजनजननि । साधुकल्पलते ।।

नृपनमनि ! नरकवारिणि ! भगवति ! भिक्षे ! नमस्तुभ्यं ।।1 ।।

शेषभिक्षा तु न्यक्षाप्यत्यन्तलाघवहेतुरेव । वदन्ति च -

"ता रूवं ताव गुणा, लज्जा सच्चं कुलक्कमो ताव । तावच्चिअ अभिमाणं, देहित्ति न जंपए जाव ।।1 ।।

तृणं लघु तृणात्तूलं, तुलादपि च याचकः। वायुना किं नीतोऽसौ, मामयं याचयिष्यति ।।2।।

रोगी चिरप्रवासी परान्नभोगी 'परावसथशायी। यज्जीवति तन्मरणं, यन्मरणं सोऽस्य विश्रामः ।।3।।"

भिक्षाभोजिनश्च निश्चिन्ततया बह्वशनालस्यनिद्रादिप्राचुर्यसम्भवेनाकिञ्चित्करत्वं नासुलभम्। श्रूयते हि कस्यचित्कपालिनो भिक्षाकर्परे तैलिकवृषभेण मुखे प्रक्षिप्ते बहुहाहारवादिपूर्व कपालिनोक्तम्- "मम पुनर्भूयस्यपि भिक्षा भवित्री परमेष वृषभो भिक्षाभाजनमुखप्रक्षेपात् मा भवतामकिञ्चित्करोऽभूत्। "इति बहु दूनोऽस्मीति"। उक्तं च भिक्षात्रैविध्यं श्रीहरिभद्रसूरिभिः पञ्चमाष्टके-

"सर्वसंपत्करी चैषा, पौरुषघ्नी तथापरा। वृत्तिभिक्षा च तत्त्वज्ञैरिति भिक्षा त्रिधोदिता ।।1।।

यतिर्ध्यानादियुक्तो, यो गुर्वाज्ञायां व्यवस्थितः। सदा अनारम्भिणस्तस्य, सर्वसंपत्करी मता ।।2।।

प्रव्रज्यां प्रतिपन्नो, यस्तद्विरोधेन वर्तते। असदारम्भिणस्तस्य, पौरुषघ्नी च कीर्तिता ।।3।।

अत्र तस्येति विशेष्यम्, असदारंभिण इति विशेषणं यद्वा चस्य गम्यत्वात्तस्य प्रव्रज्याविरोधवर्तिनः। प्रव्रजितस्य असदारम्भिणो गृहस्थस्य च -

---

पारकी ताबेदारीथी सुनारा

"**धर्मलाघवकृन्मूढो, भिक्षयोदरपूरणम् । करोति दैन्यात् पीनाङ्गः, पौरुषं हन्ति केवलम् ।।4।।**
निःस्वान्धापङ्गवो ये तु, न शक्ता वै क्रियान्तरे । भिक्षामटन्ति वृत्त्यर्थं, वृत्तिभिक्षेयमुच्यते ।।5।।

इयं च नातिदुष्टा निःस्वान्धादीनां धर्मलाघवकारित्वाभावेनानुकम्पानिमित्तत्वात्, तस्माद् भिक्षावृत्ति र्गृहस्थेन वर्जनीया, विशिष्य च धर्मवता, विशिष्टस्यापि धर्मानुष्ठानस्य, तया दुर्जनसौहार्दस्येवावज्ञानिन्दास्पदत्वाद्यापत्तेः, धर्मनिन्दामित्ततायां च बोधिदुष्प्रापतादिदोषः। यदुक्तमौघनिर्युक्तौ साधुमाश्रित्य-

"**छक्कायदयावंतो वि संजओ, दुल्लहं कुणइ बोहिं । आहारे निहारे च, दुगुंछिए पिण्डगहणे अ ।।1।।**"

न च भिक्षया कस्यचिल्लक्ष्मीसुखादिसंपत्तिः । यतः-

"**लक्ष्मीर्वसति वाणिज्ये, किञ्चिदस्ति च कर्षणे । अस्ति नास्ति च सेवायां, भिक्षायां न कदाचन ।।1।।**

उदरभरणादिनिर्वाहमात्रं तु भिक्षया भवतीत्येषाप्याजीविकोपायतया प्रोक्ता ।7। मनुस्मृतौ चतुर्थाध्याये त्वेवमुक्तम्-

"**ऋताऽमृताभ्यां जीवेत, मृतेन प्रमृतेन वा । सत्यानृतेन चैवापि, न श्ववृत्त्या कदाचन ।।1।।**
ऋतमुञ्छशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम् । मृतं तु याचितं भैक्षं, प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् ।।2।।
सत्यानृतं तु वाणिज्यं, तेन चैवापि जीवाति । सेवा श्ववृत्तिराख्याता, तस्मात्तां परिवर्जयेत् ।।3।।"

एषु च वणिजां वाणिज्यमेव मुख्यवृत्त्यार्थार्जनोपायः। पठ्यतेऽपि -

महुमहणस्स य वत्थे, न चेव कमलायरे सिरी वसइ। किंतु पुरिसाण वयसायसायरे तीइ सुहठाणम् ।।"

वाणिज्यमपि स्वसहायनीवीबलस्व भाग्योदयदेशकालाद्यनुरूपमेव कुर्यादन्यथा सहसा त्रुट्याद्यापत्तेः।

उक्तं चास्माभिः -

"स्वशक्त्यनुरूपं हि, प्रकुर्यात्कार्यमार्यधीः। नो चेदसिद्धिर्हीहासहीलाश्रबिलहानयः ।।1।।

अन्यैरपि-

"को देशः कानि मित्राणि, कः कालः कौ व्ययागमौ। कश्चाहं का च मे शक्तिरिति चिन्त्यं मुहुर्मुहुः।।"

लघूत्थानान्यविघ्नानि, संभवत्साधनानि च। कथयन्ति पुरः सिद्धिं, कारणान्येव कर्मणाम् ।।2।।

उद्भवन्ती विना यत्नमभवन्ती च यत्नतः। लक्ष्मीरेव समाख्याति, विशेषं पुण्यपापयोः ।।3।।"

वाणिज्ये व्यवहारशुद्धिश्चतुर्धा-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावभेदात्। तत्र द्रव्यतः पञ्चदशकर्मादानादिनिदानं भाण्डं सर्वात्मना त्याज्यम्। यतः -

"धर्मबाधकरं यच्च, यच्च स्यादयशस्करम्। भूरिलाभमपि ग्राह्यं, पण्यं पुण्यार्थिभिर्न तत् ।।1।।

१ श्री कृष्णनुंवक्षस्थल।

निष्पन्नवस्त्रसूत्रनाणकस्वर्णरूप्यादि पण्यं प्रायो निर्दोषं। वाणिज्ये च यथा यथा स्वल्प आरम्भः स्यात्तथा तथा यतनीयं। दुर्भिक्षादावनिर्वाहहेतु यदि बह्वारंभं खरकर्माद्यपि करोति, तदाऽनिच्छुः स्वं निन्दन् सशुकतयैव करोति। यदुक्तमागमोक्तभावश्रावकलक्षणे-

"वज्जइ तिव्वारम्भं, कुणइ अकामो अनिव्वहंतो उ। थुणइ निरारम्भजणं, दयालुओ सव्वजीवेसु ।।1।।

धन्ना हु महामुणिणो, मणसावि करंति जे न परपीडम्। आरम्भपापविरया, भुंजेति तिकोडिपरिसुद्धम् ।।2।।"

अदृष्टमपरीक्षितं च पण्यं न स्वीकार्यम्। समुदितं शङ्कास्पदं च समुदितैरेव ग्राह्यं न त्वेकाकिना, विषमपाते तथैव साहायकादिभावात्। उक्तञ्च-

"क्रयाणकेष्वदृष्टेषु न सत्यङ्कारमर्पयेत्। दद्याच्च बहुभिः सार्द्धं-मिच्छेल्लक्ष्मीं वणिग्यदि ।।1।।

क्षेत्रतः स्वचक्रपरचक्रमान्द्यव्यसनाद्युपद्रवरहिते धर्मसामग्रीसहिते च क्षेत्रे व्यवहार्यम्। न त्वन्यत्र बहुलाभेऽपि। कालतोऽष्टाह्निकात्रयपर्वतिथ्यादिकं वक्ष्यमाणं वर्षादिकालविरुद्धं च त्याज्यम्। भावतोऽनेकभेदाः। तद्यथा-क्षत्रियव्यापारिनृपाद्यैः सह व्यवहारः स्वल्पोऽपि न प्रायो गुणाय। स्वहस्तदत्तवित्तयाचनेऽपियेभ्योभीयते, तैः सह शुभोदर्कः कथं नाम स्वल्पोऽपि व्यवहारः? तदाह-

"व्यापारिभिश्च विप्रैश्च, सायुधैश्च वणिग्वरः। श्रियमिच्छन्न कुर्वीत, व्यवहारं कदाचन ।।1।।

उद्धारके च विरोधकारकैः कैरपि सह न व्यवहार्यम्।

यतः-

"सङ्‌ग्रहेऽर्थोऽपि जायेत, प्रस्तावे तस्य विक्रयात्। उद्धारं नोचितः सोऽपि, वैरविग्रहकारिणी ॥1॥

नटे विटे च वैश्यायां, द्यूतकारे विशेषतः। उद्धारके न दातव्यम्, मूलनाशो भविष्यति ॥2॥

कलान्तरव्यवहारोऽपि समधिकग्रहणकादानादिनैवोचितोऽन्यथा तन्मार्गणादिहेतुक्लेशविरोध-धर्महानिधरणाद्यनेकार्थापत्तेः। श्रूयते हि श्रेष्ठिजिनदत्तसुतो नाम्नापि मुग्धः पितृप्रसादाल्लीलावान् पित्रादशनरीशुद्धकुलां श्रेष्ठिनंदिवर्द्धनकन्यां प्रौढात्सवः परिणायितः। प्रान्ते तथैव गुणदर्शनादगूढार्थक्चोभिरेव शिक्षितः "वत्स ! सर्वतो दन्तैर्वृत्ति कार्या 1। परस्य लाभार्थ धनादि दत्त्वायाच्यम् न 2। भार्या बद्धैव ताड्या 3। मिष्टमेव भोज्यम् 4। सुखेनैव शेयम् 5। ग्रामे ग्रामे गृहं कार्यम् 6। दौस्थ्ये गङ्गातटं खननीयम् 7। एतदर्थसन्देहे पाटलीपुत्रे मन्मित्रं श्रेष्ठिसोमदत्तः प्रष्टव्य 8 इति।' भावोर्थनभिज्ञः क्रमात्तथैव स कुर्वन् खेदवान् निःस्वो भार्याद्यनिष्ट सीदत्कार्यस्त्रुटद्वित्तो महामूर्खोऽयमिति सर्वेषां हास्योऽभूत्। ततः पाटलीपुत्रे गत्वा श्रेष्ठिसोमदत्तं भावार्थ पप्रच्छ तेनोक्तम्-

"सर्वेषां प्रियं हितं च वाच्यम् 1। समधिकग्रहणकादानादिना तथा धनादि देयम्, यथा स्वयं परोऽर्पयति 2। सापत्यैव प्रिया ताड्यऽन्यथा रुष्टा पितृगृहादौ यायात् कूपपातादि वा कुर्यात् 3। अनादरे गृहे न भोज्यम्, भोजने आदरस्यैवमिष्ट-

त्वात् 4। निःशङ्के स्थाने वास्तव्यं यथा सुखं स्वापः स्यात्। यद्वा बुभुक्षयैव भञ्जीत, यथा सर्वं मिष्टं स्यात्। निद्रालुरेव शयीत, यथा यत्र तत्रापि सुखं निद्रैति 5। ग्रामे ग्रामे मैत्री कार्या यथा स्वगृहवद् भोजनादि सर्वं सुसाधं स्यात् 6। दौस्थ्ये त्वद्गृहस्थगङगाख्यगोस्थाने खननीयं, यथा पित्रा प्राग्न्यस्तं निधिं लभसे 7 इति।

सोऽपि तथा कुर्वन् धनी सुखीमहनीयश्च जज्ञे।

इति पुत्रशिक्षादृष्टान्तः ।

तस्मादुद्धारे क्वापि न व्यवहार्यम्। अनिर्वहस्तु यदि तथापि व्यवहरति, तदा सत्यवादिभिरेव सह कलान्तरमपि देशकालाद्यपेक्षयैकद्विकत्रिक चतुष्कपञ्चकवृद्धयादिरूपं शिष्टजनानिन्दितमेव ग्राह्यम्। दायकेनापि प्रोक्तवेलाया अर्वागेव तद्दयम्. वचनानिर्वाहाधीनत्वात्पुंसः प्रतिष्ठायाः। उक्तमपि-

"तत्तिअमित्तं जंपह, जत्तिअमित्तस्स निक्कयं वहह। तं उक्खिवेह भारं, जं अद्धपहेन छंडेह ।।1।।"

जातु धनधान्यादिना दातुमशक्तौ शनैः शनैस्तदर्पणस्वीकारादिनोत्तमर्णः सन्तोष्योऽन्यथा वि श्वासहान्या। व्यवहारभङ्गप्रसङ्गः। ऋणच्छेदे सर्वशक्त्या यतितव्यम्। को हि मूढधीर्भवद्वयपराभवकारणमृणं क्षणमात्रमपि धारयेत्। यदुक्तम्-

"धर्म्मारम्भे ऋणच्छेदे, कन्यादाने धनागमे। शत्रुघातेऽग्निरोगे च, कालक्षेपं न कारयेत् ।।1।।"

"तैलाभ्यंगमृणच्छेदम्, कन्यामरणमेव च। एतानि सद्यो दुःखानि, परिणामे सुखानि तु ।।2।।"

स्वनिर्वाहाक्षमतया ऋणदानाशक्तेन तूत्तमर्णगृहे यथार्हकर्मकरणादिनापि ऋणमुच्छेद्यमन्यथा भवान्तरे तद्गृहे कर्मकरम-हिषवृषभकरभरासभ वेसरतुरगादित्वस्यापि सम्भवात् । उत्तमर्णेनापि सर्वथा ऋणदानाशक्तो न याच्यो, मुधैव क्लेश-पापवृद्ध्यादिभावात् । किन्तु ''यदाशक्नोषि तदा दद्या:, नो चेदिदं धर्मपदे मे भूयात् । इति वाच्य: न तु ऋणसम्बन्धाश्चिरं स्थाप्यं, तथा सत्यायु:समाप्तौ भवान्तरे द्वयोर्मिथ: सम्बन्धवैरवृद्ध्याद्यापते: । श्रूयते हि श्रेष्ठिभावडस्य ऋणसम्बधेन पुत्रभवनादि । यथा दु:स्वप्नदुर्दोहदादिहेतुर्दुष्ट: प्रथमपुत्रो मृत्युयोगोत्पन्नो माहल्गीसरित्तीरे शुष्कद्रुमस्या-धस्म्यक्तो रुदित्वा हसित्वा चाह ''स्वर्णलक्षं मे लभ्यं दत्त, नो चेद् वोऽनर्थो भावी'' ति । ततो जन्मोत्सवादिना षष्ठीदिने लक्षपूर्तौ स मृत:। एवं द्वितीयस्त्रिलक्षीपूर्तौ मृत: । सुस्वप्नादिहेतुस्तृतीयपुत्रस्त्वेकोनिविंशतिस्वर्णलक्षा मया देया इति वादी जावडि: पित्रोर्धर्मव्यये तावद्धनं मानयित्वा काश्मीरे नवलक्ष्या ऋषभपुण्डरीकचक्रे श्वरीमूर्तीर्लात्वा दश लक्ष्या च प्रतिष्ठाप्याष्टादशपोतार्जितासङ्.ख्यस्वर्ण: शत्रुञ्जये लेप्यमयं बिम्बमुत्थाप्य मभ्माणिमणिमयं तत्रयं स्थापयामास । ऋगम्बन्धे हि प्राय कलहानिवृत्तेर्वैरवृद्ध्यद्यपि प्रतीतम् । तस्माद् ऋगसम्बन्धस्तद्भवे एव यथा कथञ्चिन्निर्वाल्य: । अन्यत्रापि व्यवहारे निजस्वस्याचटने धर्मार्थमिदमिति चिन्त्यं धर्मार्थिना । अत: साधर्मिकैरेव सह मुख्यवृत्त्या न्याय्य:। तत्पार्श्वे स्थितस्य निजस्वस्य धर्मोपयोगित्वसम्भवात् । म्लेच्छादिपार्श्वाल्लभ्ये तु यत्र कोऽपि पुण्योपयोगो न स्यात् । तस्य प्राप्त्यसम्भवे व्युत्सर्जनमेव युक्तम् । व्युत्सर्गादनुप्राप्तम् तु तत्संघस्यैव धर्मव्ययार्थमर्प्यम् । एवं स्वकीयं गतमपि वित्तवस्तु शस्त्रा दिप्राप्त्यसम्भवे व्युत्सृज्यं, यथा तदुत्थं पापं न लगेत् । इत्थं युक्त्यानन्तभवसत्कं गेहदेहकुटुम्बवित्तशस्त्रादिसर्व पापहेतु विवेकिना व्युत्सर्जनीयमन्य था

तदुत्थदुष्कृतस्यानन्तैरपि भवैरनिवृत्तेः । न चैतदनागमिकं पञ्चमाङ्गे पञ्चमशते षष्ठोद्दशके व्याधेन मृगे हते धनुःशरज्यालोहादि- जीवनामपि हिंसादिक्रियाया उक्तत्वात् । न च क्वचित् किञ्चिद्धनहान्यादिना निर्वेदं यायादनिर्वेदस्यैव श्रियो मूलत्वात् । उच्यते च-

"सुव्यवसायिनि कुशले, क्लेशसहिष्णौ समुद्यतारम्भे ।
नरि पृष्ठतो विलग्ने, यास्यति दूरं कियल्लक्ष्मीः ।।1।।"

यत्र च धनमर्ज्यते तत्र किञ्चिद्यात्यपि बीजनाशपूर्विकैव हि कर्षकस्यापि धान्यसंपत्तिः । दुर्दैववशाच्च बहुधनादिहानावपि न दैन्याद्याश्रयेत्, किन्तु धर्मकरणादि यथार्हतत्प्रतिक्रियायै प्रयतेत । आह हि-

"म्लानोऽपि रोहति तरुः, क्षीणोऽप्युपचीयते पुन श्चंद्रः ।
इति विमृशन्तः सन्तः, सन्तप्यन्ते न विपदापि ।।1।।"

विपदां सम्पदां चापि, महतामेव सम्भवः । कृशता पूर्णता चापि, चन्द्र एव न चोडुषु ।।2।।

विच्छायतां व्रजसि किं, सहकारशाखिन् !, यत्फाल्गुनेन सहसापहृता मम श्रीः ।
प्राप्ते वसन्तसमये तव सा विभूतिर्भूयो भविष्यतितरामचिरादवश्यम् ।।3।।

अत्र दृष्टान्तोऽयम्-

पत्तेने श्रीमालनागराजश्रेष्ठी कोटीध्वजः प्रिया मेलादेवी, तस्यां साधनायां श्रेष्ठी विशूचिकया मृतः। नृपेणापुत्र इति कृत्वा सर्वस्वं गृहीतम्। श्रेष्ठिनी धवलक्कके पितृगृहे गताऽमारिदोहदे पित्रा पूरिते पुत्रो जज्ञे। अभयाख्यो जने 'आभड' इति ख्यातः। पञ्चवर्षः पठन् 'निस्तात' इति बालैरुक्ते निर्बन्धान्मात्रा स्वरूपे उक्ते साग्रहं समहं पत्तने गतः। स्वगृहे स्थित्वा वाणिज्यं कुर्वन् लाछलदेवीं परिणिन्ये। ततः प्राक्तननिधानलाभादिना कोटीध्वजो जज्ञे। सुतत्रयं जातम्। क्रमाद्दुष्कर्मणा निर्धनत्वे सपुत्रां पत्नीं तत्पितृगृहे प्रेष्य मणिकारहट्टे मणिकादीन् धर्षन् यवमानकं लभते तत् स्वयं पिष्ट्वा पक्त्वा चात्ति। यतः

''वार्धिमाधवयोः सौधे, प्रीतिप्रेमाङ्क.धारिणोः। या न स्थिता किमन्येषां, स्थास्यति व्ययकारिणाम् ।।1।।''

अन्यदा श्रीहेमसूरिपार्श्वे इच्छापरिमाणग्रहणे बहुसंक्षेपे गुरुभिर्निषिद्धे नवद्रम्मलक्षाः कृतास्तन्मानेनान्यदपि नियमितम्। शेषं धर्मव्यये कार्यम्। क्रमाद् दम्मपञ्चकं ग्रन्थौ जातम्। अथाजां सेन्द्रनीलकण्ठाभरणां पञ्चद्रम्मैः क्रीत्वोपलक्ष्येन्द्रनीलस्य लक्षमूल्या मणयः कारिताः क्रमाद्धनी प्रागवज्जझे। कुटुम्बं मिलितम्। साधूनां विहारणे प्रत्यहं घृतघटः। प्रत्यहं साधर्मिक-वात्सल्यसत्रागारमहापूजादि। प्रतिवर्षं सर्वदर्शनसङ्.घार्चाद्वयनानापुस्तकलेखन चैत्यजीर्णोद्धारबिम्बकरणादि। एवं चतुरशीतिवर्षायुः, प्रान्ते धर्मवहिकावाचनेऽष्टनवतिभीम प्रियद्रम्मलक्षव्ययं श्रुत्वा विषण्णः प्राह-''हा ! कृपणेन मया कोट्यपि न व्ययिता'' ततः पुत्रैस्तदैव दशलक्षीं व्यय्याष्टोत्तरा कोटी कृताष्टौ लक्षाः पुनर्मानिताः। सोऽनशनात्स्वर्गतः। इत्याभडप्रबन्ध।

प्राक्कृतदुष्कृतदौरात्म्यात्पूर्वावस्थाया अप्राप्तावपि धैर्यमेवावलम्ब्यम् । विपदब्धौ तस्यैव पोतायमानत्वात् । कस्य वा सर्वे दिवसा: सदृशा:स्यु:? भण्यतेऽपि-

"को इत्थ सया सुहिओ, कस्स व लच्छी थिराइं पिम्माइं।
को मच्चुणा न गसिओ, को गिद्धो नेव विसएसु ।।1।।

इदृशी विषमे च सन्तोष एवं सर्वसुखमूलमालम्बनीयोऽन्यथा तच्चिन्तार्त्या भवद्वयकार्येभ्योऽपि परिभ्रश्येत। तत उक्तम्-

"चिन्तानामेण नई, आसासलिलेण पूरिआ वहई। बुड्डेसि मंदतारु असंतोसतरंडए लग्ग ।।1।।"

यदा च विविधोपायकरणेऽपि स्वभाग्यदशाया हीनत्वमेवानु भवति, तदा कस्यचिद् भाग्यवत: सुयुक्त्या कथमप्याधारं गृह्णीयात् । काष्ठाधारेण हि लोहपाषाणाद्यपि तरपि । श्रूयते हि भाग्यवानेक: श्रेष्ठी तस्य वणिक्पुत्रो दक्ष: । श्रेष्ठिसान्निध्याद्धनी क्रमान्निर्धन: । श्रेष्ठिनि मृते तत्पुत्रेभ्य: सान्निध्यमीहते । ते तु तं निर्धनत्वादालापयन्त्यपि न । ततस्तेन द्वित्राप्त समक्षं श्रेष्ठिजीर्ण बहिकायां सहस्त्रटण्क द्वयं श्रेष्ठिनोमया देयमिति रह: कथमपि स्वहस्तेन लिलिखे। अन्यदा तद् दृष्टवा तैरुन्मार्गणे तेनोक्तम्-व्यवसायार्थ कियद्धनमर्प्यतां, यथा शीघ्रं युष्मदीयं देयं दीयते।" ततस्तै: स्वद्रव्येण वाणिज्यमकार्यत । बहुधनार्जने तै: स्वलभ्यमार्गणे तेन साक्षिपूर्वं सम्यक्स्वरूपं प्रारूपि । एवं तदाधारेण स महर्द्धि जज्ञे ।

"निर्दयत्वमहङ्.कारस्तृष्णा कर्कशभाषणम् । नीचपात्रं प्रियत्वं च पञ्च श्री सहचारिण: ।।1।।"

इत्युक्तिर्ह्रासत्प्रकृत्यपेक्षा तेन भूरिद्रव्यलाभेऽपि न गर्वादि कुर्वीत। यतः-

"विपदि न दीनं संपदि न गर्वितं सव्यथं परव्यसने। हृष्यति चात्मव्यसने येषां चेतो नमस्तेभ्यः ।।1।।"

जं जं खमह समत्थो, धणवंतो जं न गव्विओ होइ ।
जं च सविज्जो नमिओ, तिहिं तेहिं अलंकिआ पुहवी ।।2।।"

न च केनापि सह स्वल्पमपि कलहायते। विशिष्य च महद्भिः यतः -

"वर्जयेत्कासवां श्चौर्यम् निद्रावान् चर्मचोरिकाम् ।रोगवान् रसनालौल्यम्, धनवानन्यतःकलिम्।।1।।
अथ्थवइणा निवइणा, पक्खसवया बलवया पयंडेण।गुरुणा वीएण तवस्सिणा य सह वज्जए वायम्।।2।।"

जातु महता सहार्थादिसम्बन्धः स्यात्तदा प्राणिपातादिनैव स्वकार्यसिद्धिर्न तु बलकलहादिना पञ्चाख्यानेऽप्याख्यातम्-

"उत्तमं प्रणिपातेन, शुरं भेदेन योजयेत्। नीचमल्पप्रदानेन, स्वतुल्यं तु पराक्रमैः ।।1।।"

धनार्थी धनवांश्च विशिष्य क्षमामाद्रियेत्। क्षमा हि श्रीवृद्धिरक्षयोः क्षमा। तदाह-

"होममन्त्रबलं विप्रे, नीतिशास्त्रबलं नृपे। राजा बलमनाथानां, वणिक्पुत्रे क्षमा बलम् ।।1।।

अर्थस्य मूलं प्रियवाक् क्षमा च, कामस्य वित्तं च वपुर्वय श्च।
धर्मस्य दानं दया दम श्च, मोक्षस्य सर्वार्थनिवृत्तिरेव ।।2।।"

दन्तकलहस्तु सर्वत्र सर्वथा परिहार्यो, यदुक्तं श्रीदारिद्यसम्वादे-

"गुरवो यत्र पूज्यन्ते, वित्तं यत्र नयार्जितम्। नयार्जितम्। अदन्तकलहो यत्र, तत्र शक्र ! वसाम्यहम् ।।1।।
द्युतपोषी निजद्वेषी, धातुवादी सदालसः। आयव्यस्यानालोची तत्र तिष्ठाम्यहं सदा ।।2।।

लभ्यमार्गणाद्यप्यकठिनानिन्दितवृत्यैव युक्तमन्यथाऽधमर्णदाक्षिण्यलज्जादिलोपेन धन धर्मप्रतिष्ठाहान्याद्यापत्तेः अतः स्वयं लङ्.घनेऽपि परलङ्.घनादि वर्ज्यम् । स्वयं भुक्त्वा परलङ्.घनं तु सर्वथानर्हम् । भोजनाद्यन्तरायस्य ढण्ढणकुमारादिवद् भृशं दुस्सहत्वात्। यावत्कार्य साम्ना सिद्ध्यति न तावदसाम्ना, विशिष्य च वणिगादीनां। वदन्त्यपि-

"यद्युप्युपाया श्चत्वारः, प्रथिताः साध्यसाधने। संज्ञामात्रं फलं तेषां, सिद्धिः साम्नि प्रतिष्ठिता ।।1।।
मार्दवेनैव वश्याः स्यु-र्येऽपि तीक्ष्णाः सुनिष्ठुराः। जिह्वामुपासते पश्य, दन्ताः कर्मकरा इव।।2।।"

लभ्यदेयादिसम्बन्धे भ्रान्तिविस्मृत्यादिवैमत्योत्पत्तावपि मिथः सर्वथा विवादं न कुर्यात्, किन्तु न्यायकरचतुरचतुष्पञ्चाप्तप्रतिष्ठाप्राप्तपुरुषा यथा कथयन्ति तथा मान्यमन्यथा विवादभङ्.गाभावात्। यतः -

“परैरेव निवर्त्यैत, विवादः सोदरेष्वपि । विरलात्कंकतः कुर्यात्, अन्योऽन्यं गूडमूर्द्धजान् ।।1।।”

तैरप्यपक्षपातेन मध्यस्थतयैव न्यायः कार्यः । सर्व सम्यक् परीक्ष्य स्वजनसाधर्मिकादिकार्ये न तु सर्वत्र । यतो निर्लोभ तयैव सम्यक् न्यायकरणेऽपि यथा विवादभङ्.गमहत्त्वादिर्गुणस्तथा दोषोऽपि महान् । विवादापनोदाय कस्याप्यसदपि देयं क्रियते, अन्यस्य च सदपि भज्यते सम्यगपरिज्ञानादिना । श्रूयते कोऽपि महर्द्धिः प्रसिद्धश्रेष्ठी महत्त्वबहुमानार्थी विज्ञवि-धातमान्यपत्र्या निवार्यमाणोऽपि सर्वत्र न्यायकरणार्थ व्रजति । अन्यदा पत्र्या पितुर्बोधाय कूटं झटकं मण्डितं “प्राग् न्यासीकृते स्वर्णसहस्त्रे मदीये दत्तेऽहं भोक्ष्ये” इत्युक्त्वा लडघ.यन्ती कथमपि न पर्यवस्यति।
‘तातपादा वृद्धा अपि मद्धने लुब्धा’ इत्यादि यद्तद् वदति च । ततो ह्रीणेन पित्रान्यायकरा आकारितास्तैर्विमृश्य स्वर्णसहस्रं श्रेष्ठिसकाशात्तस्यै दापितम् । पुत्रीत्वाद् विशिष्य बालविधवत्वादिना च । श्रेष्ठी कथं मुधैव धनमनया गृहीतम् ? जनेऽपवादादि च दुःसह जातमिति खिन्नः। क्षणान्तरे पुत्र्या सम्यगुक्त्वा स्वर्ण पश्चादर्पितम् । ततः श्रेष्ठी हृष्टः प्रबुद्धश्च । प्रायो न्यायकरत्वं तत्याज तस्मान्न्यायकरैरपि न्यायो यत्र तत्र यथा तथा न कार्यः । इति न्यायकरज्ञातम्। यथा परमत्सरं क्वापि न कुर्यात् । कर्मायत्ता हि भूतयः किं मुधा मत्सरेण भवद्वयेऽपि दुःखाकरेण? आचक्ष्महि च-

“यादृशं चिन्त्यतेऽन्यस्य तादृशं स्वयमाप्यते ।इति जानन् कथं कुर्यात्, परवृद्धिषु मत्सरम् ।।1।।”

तथा धान्यौषधवस्त्रादि वस्तुविक्रयार्त्तावपि दुर्भिक्षव्याधिवृद्धिवस्त्रादिवस्तुक्षयादि ‘जगददुःखकृत्सर्वधा नाभिलषेत्’ नापि

दैवात्त्ज्जातमनुमोदेत, मुधा मनोमालिन्याद्याप्तेः। यथा द्वौ सुहृदौ घृतचर्मादित्सया यान्तौ वृद्धया रन्धन्या तादृग् मनो ज्ञात्वा घृतार्थी ! गृहेऽन्तश्चर्मार्थी ! तु बहिर्भोजितौ । वलने व्यत्ययः कृतः । ताभ्यां प्रश्ने मनःशुद्धिमालिन्ये हेतु उक्तौ । तदाहुः -

" उचिअंमुत्तूण कलं, दव्वाइकमागयं च उक्करिसम् । निवडिअमवि जाणंतो, परस्स संतं न गिण्हिज्जा ।।1।।"

अस्या व्याख्या-उचितकला शतं प्रति चतुष्कपञ्चकवृद्ध्यादिरूपा । 'व्याजे स्याद्, द्विगुणं वित्तम्' इत्युक्तेर्द्विगुणद्रव्यत्रिगुण- धान्यादिरूपा वा तां तथा द्रव्यम् गणिमधरिमादि, आदिशब्दात्तत्तद्गतानेकभेदग्रहः, तेषां द्रव्यादीनां क्रमेण द्रव्यक्षयलक्षणेनागतः संपन्नो य उत्कर्षोऽर्थवृद्धिरूपः, तं मुक्त्वा शेषं न गृह्णीयात् । कोऽर्थः? यदि कथञ्चित् पूगफलादिना द्रव्याणां क्षयाद् द्विगुणादिलाभः स्यात्तदा तमदुष्टाशयतया गृह्णाति । न त्वेवं चिन्तयेत्सुदरं जातम् यत्पूगफलादिनाक्षयोऽभूदिति । तथा निपतितमपि परसक्तं जानन्न गृहणीयात् । कालान्तरादौ क्रयविक्रयादौ च देशकालाद्यपेक्षया य उचितः शिष्टजनानिन्दतो लाभः स एवं ग्राह्य इत्युक्तमाद्यप ञ्चाशकवृत्तौ ।

''कूटतुलमनन्यूनाधिकवाणिज्य-रसमेल-वस्तुतुमेलानुचितमूल्यवृद्ध्यनुचित कलान्तरग्रहणल ञ्चाप्रदान-ग्रहणकूटकरकर्षणकूटघृष्टनाणकाद्यर्पणपरकीयक्रयविक्रय भञ्जनपरकीयग्राहकव्युद्ग्राहनवर्णिकान्तरदर्शन सान्धकारस्थानवस्त्रादिवाणिज्यमषीभेदादिभिः सर्वथा परवञ्चनं वर्ज्यम् । यतः-

" विधाय मायां विविधैरुपायैः, परस्य ये वञ्चनमाचरन्ति ।

खौटा, तोल-मापथी आपन लगता दोष।

ते व ञ्चयन्ति त्रिदिवापवर्गसुखान्महामोहसखाः स्वमेव ।।1।।"

न चैवं निःस्वानां निर्वाहस्यैव दौष्कर्यम्। निर्वाहो हि स्वकर्मणैव स्यात्, व्यवहारशुद्धौ तु बहुग्राहकागमनादिना विशिष्य। अत्र दृष्टान्तोऽयम् -

एकत्र नगरे हेलाकः श्रेष्ठी पुत्र चतुष्कादियुतस्त्रिपञ्चसेरादिमितमानकादिना दानादानादौ त्रिपुष्कर ञ्चपुष्करादिपुत्रगालिदानसंकेतादिनां च कूटं व्यवहरति । अन्यदा तत्स्वरूपं ज्ञात्वा चतुर्थवध्वा श्रेष्ठी भृशमपालब्धोऽभ्यधात्, किं क्रियते निर्वाहस्य दौष्कर्यम् ?

"बुभुक्षितः किं न करोति पापम् ?" तयोक्तम्-तात ! मैवं वादीर्यतो व्यवहारशुद्धिरेव सर्वार्थसाधनी"

उक्तमपि-

"धम्मत्थिआण दव्वथिआण नाएण वट्टमाणाणम् । धम्मोदव्वं सव्वं संपज्जइ नन्नहा कहवि ।।1।।"

ततः मैवं क्रियतां षण्मासीं यावत्परीक्षार्थं, यथा धनवृद्ध्यादि स्यात्। परीक्षाप्राप्तौ त्वग्रतोऽपि कार्या। तद्गिरा श्रेष्ठ्यपि तथा चक्रे। ततो बहुग्राहकागमनादिना सुखनिर्वाहे पलप्रमाणं सुवर्णं ववृधे। ततो न्यायार्जितं गतमप्यायातीति वधूवचसा तत्सुवर्णं लोहवेष्टिम्, नामाङ्.कम् कट्टलकं कृत्वा षण्मासीं तेन व्यवहृत्य हृदमध्ये क्षिप्तम्। मत्स्येन भक्ष्यबुद्ध्या गिलितम्। मत्स्यो धीवरेण गृहीतस्तदुदरात्स्फुटीभूतं-नाम्नोपलक्ष्य श्रेष्ठिनोऽर्पितम्। ततः श्रेष्ठी सकुटुम्बः संजातसत्यप्रत्ययः प्रबुद्धः। सम्यग् व्यवहारशुद्ध्या भृशं समृद्धो राजमान्यः परमः श्राद्धः सर्वजने प्रसिद्धस्तथाभूद्यथा तन्नाम्नापि परेषां विघ्नादि टलति। श्रूयते

ह्यद्यापि महापातेचालनादौ 'हेला हेला' इत्याद्युच्चैर्भाषमाणाः । इति व्यवहारशुद्धौ निदर्शनम् । स्वामिमित्रविश्वस्त-देवगुरुवृद्धबालद्रोहन्यासापहारादीनि तु तद्धत्याप्रायाणि महापातकानि सर्वथा विशिष्य वर्जनीयानि । यतः -

''कूटसाक्षी दीर्घरोषी, विश्वस्तघ्नः कृतघ्नकः । चत्वारः कर्मचाण्डालाः पञ्चमो जातिसम्भवः ।।1।।''

अत्र विसेमिरासम्बन्धो यथा-

विशालायां नन्दो राजा । विजयपालः सुतः । बहुश्रुतनामा मन्त्री । भानुमती राज्ञी । राजा तदासक्तः सभायामपि भानुमतीं पार्श्वे स्थापयति ।

''वैद्यो गुरु श्च मन्त्री य, यस्य राज्ञः प्रियंवदाः । शरीरधर्मकोशेभ्यः, क्षिप्रं स परिहीयते ।।1।।''

इत्यक्तेमंत्री प्रोचे-देव ! राज्ञयाः पार्श्वे स्थापनमनुचितम् । यतः-

''अत्यासन्ना विनाशाय, दुरस्था न फलप्रदाः । सेव्या मध्यमभावेन, राजा ब्रह्नि-गुरुस्त्रियः ।।1।।''

अतो राज्ञीरूपं चित्रस्थं कारय । तथा कृतं स्वगुरोः शारदानन्दस्य दर्शितं च, तेन स्वविज्ञताज्ञापनायोक्तम् ''वामोरु-प्रदेशे तिलकोऽस्ति स न कृतः'' राज्ञा सविकल्पेन मन्त्रिण उक्तमयंमार्य एव । मन्त्रिणा तु-

''सगुणमपगुणं वा कुर्वता कार्यजातम्, परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन ।
अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्ते-र्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः ।।1।।

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् । वृणुते हि विमृश्यकारिणं, गुणलब्धाः स्वयमेव संपदः ।।

इति नीतिशास्त्रोक्तं स्मृत्वा स रहः स्वगृहे स्थापितः । अन्यदा राजसुतः पापर्द्ध्यै शुकरमनुव्रजन् दूरंगतः । सांय सरसि जलं पीत्वा व्याघ्रभिया वृक्षे व्यन्तराधिष्ठितवानरेण स्वोत्सङ्गे पूर्वं शायितः । पश्चादुत्सङ्गे कपिः सुप्तः। क्षुधार्त्तव्याघ्रवचसा तेन मुक्तो व्याघ्रमुखे पतितो, हसिते व्याघ्रे मुखान्निर्गतो रुदन् व्याघ्रपृष्टःप्राह-

"निजजातिं परित्यज्य, परजातिषु ये रताः । तानहं रोदिमि व्याघ्र ! कथं ते भाविनो जडाः ! ।।1।।"

कुमारो लज्जितस्तेन ग्रहिलीकृतः । सर्वत्र 'विसेमिरा' इत्येव वदन् अश्वागमनाज्ज्ञात्वा राज्ञा संशोध्य गृहे आनीतः।

कथमपि गुणो न तदा शारदानन्दनः स्मृतः। ततो राज्यार्द्धदानपटहे मन्त्रिणोक्तम्-मत्पुत्री किञ्चिद् वेत्ति । राजा सपुत्रो मन्त्रिगृहे प्राप्तस्ततो जवनिकान्तरितेन शारदानन्देनोक्तम्-

विश्वासप्रतिपन्नानां वञ्चने का विदग्धा ? अंक मारुह्य सुप्तानां, हन्तु किन्नाम पौरूषभ इति श्रुत्वाद्याक्षर मुक्तम् ।।1।।

"सेतुं गत्वा समुद्रस्य, गंगासागरसङ्गमे । ब्रह्महा मुच्यते पापै-र्मित्रद्रोही न मुच्यते ।।2।।"

द्वितीय मुक्तम्-

"मित्रद्रोही-कृतघ्नश्च, रतेयी विश्वासघातकः । चत्वारो नरकं यान्ति, यावच्चंद्रदिवाकरौ ।।3।।"

तृतीय मुक्तम्

"राजंस्त्वं राजपुत्रस्य, कल्याणं यदि वाञ्छसि। देहि दानं सुपात्रेषु, गृही दानेन शुद्ध्यति ।।4।।"

तुर्य मुक्तम्। कुमारः सुस्थो जातो व्याघ्रादिवृत्तान्तमूचे। राजा

"ग्रामे वससि हे बाले ! वनस्यं चरित खलु। कपिव्याघ्रमनुष्याणां, कथं जानासि पुत्रिके ! ।।1।।"

सा प्राह-

"देवगुर्वोः प्रसादेन, जिह्वाग्रे मे सरस्वती। तेनाऽहं नृप ! जानामि, भानुमतीतिलकं यथा।।1।।"

ततो गुरुराजानौ मिलितौ हृष्टौ। इति विश्वस्तवचने दृष्टान्तः। इह पापं द्विधा, गोप्यं स्फुटं च। गोप्यमपि द्विधा लघु महच्च। लघु कूटतुलामानादि, महद्विश्वासघातादि। स्फुटमपि द्विधा, कुलाचारेण निर्लज्त्वादिना च। कुलाचारेण गृहिणामारम्भादि म्लेच्छानां हिंसादि च। निर्लज्जत्वादिना तु यतिवेषस्य हिंसादि। तत्र निर्लज्जत्वादिना-स्फुटेऽनन्तसंसारित्वाद्यपि प्रवचनोड्डादिहेतुत्वात्। कुलाचारेण पुनः स्फुटे स्तोकः कर्मबन्धो गोप्ये तु तीव्रतरोऽसत्यमयत्वात्। असत्यम् च मनोवाक्कायैस्त्रिविधमपि महत्तमंपातकं तद्वद्भिरेव गोप्यपापकरणात्। न ह्यसत्यत्यागी गोप्यपापे क्वापि प्रवर्त्तते। असत्यप्रवृत्तेश्च निःशूकता स्यात्। निःशूकतायां च स्वामिमित्रविश्वस्तद्रोहदीन्यपि महापातकानि कुर्यात्तत एवोक्तम् योगशास्त्रान्तरश्लोकेषु-

"**एकत्रासत्यजं पापम् निःशेषमन्यतः। द्वयोस्तुलाविधृतपोराद्यमेवातिरिच्यते ।।1।।**

एवं चासत्यमयगोप्यपापरूपस्य परवञ्चनस्य वर्जने सर्वशक्तया यतनीयम् । न्याय एव हि परमार्थतोऽर्थोपार्जनोपायोपनिषद्। दृश्यते हि संप्रत्यपि न्यायनुसारिणां स्वल्पस्वल्पार्थोपार्जनेऽपि धर्मस्थानादौ प्रत्यह तद्व्ययेऽपि च कूपादीनामिवाक्षयद्रव्यत्वादि। परेषां तु पापपराणां बहुबहु द्रव्यलाभेऽपिताहग् व्ययाभावेऽपि च मरुसरोवरा दीनामिव द्रागेवक्षीणत्वादि। आह च-

"**आत्मनाशाय नोन्नत्यै, छिद्रेण परिपूर्णता। भूयो भूयो घटीयन्त्रम्, निमज्जत् किं न पश्यसि ।।1।।**"

ननु न्यायधर्मैकनिष्ठा अपि केचिद् दौस्यादिना नित्यं दुःखिता एवं दृश्यन्तेऽन्ये त्वन्यायधर्मैकनिष्ठा अप्यैश्वर्यादिना सुखिताश्च तत्कथं न्यायस्यैव प्राधान्यम् । उच्यतेअयं-प्राक्कर्मकृतो विपाकविशेषो न त्वेतद्भवकर्मकृतः। कर्म च चतुर्द्धा। यदाहुः श्रीधर्मघोषसूरिपादाः -

"**पुण्णाणुबंधि पुण्णं, तहेव पावाणुबंधि पुण्णं च। पुण्णनुबंधी पावं, पावं पापाणुबंधि तहा ।।1।।**

अविराहिय जिणधम्मा, निरवायं निरुवमं च भवसायं।

भरहुव्व लहंति जओ, पुण्णं पुण्णणुबंधि तयम् ।।2।।

नीरोगाइगुणजुआ, महिड्ढिआ कोणिउव्व पावरया। पावाणुबंधिपुण्णा, हवन्ति अन्नाणकट्ठण ।।3।।

जं पुण पावरसुदया, दरिद्दिणो दुखिआवि पावन्ति। जिणधम्मं तं पुण्णाणुबंधिपावं दयाइलवा।।4।।

द्रमकमहर्षिवत्-

"पावापयंडकम्मा, निद्धम्मा निग्घिणा निरणुतावा। दुहिआवि पावनिरया, पावं पावाणुबंधितयम् ।।5।।

कालशौककरिकादिवत्-

"बहिरंगतरंगरिद्धी, जायइ पुण्णाणुबंधिपुन्नेणम् ।इक्काविन जेसिं पुणो, धिद्धी मणुअत्तणं तेसिम् ।।6।।

जे खंडभावणा पुण, करिंति न जिआ अखंडिअं पुण्णं। ते अन्नभवे पावन्ति, संपया आवयाहिं जुआ।।7।।

एवं च यद्यपि कस्यचित्पापानुबन्धिपुण्यकर्मवशादैहलौकिकी विपन्न दृश्यते, तथाप्यायत्यामवश्यं भाविन्येव। यतः -

"पापेनैवार्थरागान्धः फलमाप्नोति यत् क्वचित्। बडिशामिषवत् तत्तमविनाश्य न जीर्यति ।।1।।"

अतः स्वामिद्रोहहेतुं शुल्कभंगाद्यप्यत्रामुत्राप्यनर्थकृत्सर्वथा परिहरेत्। यत्र च स्वल्पोऽपि परोपतापस्तं व्यवहारं गृहाट्टकारणग्रहण स्थित्यादि च सर्व वर्जयेत्। न हि परनिः श्वासैः समृद्धिसुखादितवृद्धिः। यतः-

"शाठ्येन मित्रं कपटेन धर्मं, परोपतापेन समृद्धिभावं।

सुखेन विद्यां परुषेण नारीम्, वाञ्छन्ति ते व्यक्तमपंडितास्ते ।।1।।

यथा च जनानुरागः स्यात् तथैव यतितव्यम्। यतः -

"जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं, गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते ।

गुणप्रकर्षेण जनोऽनुरज्यते, जनानुरागप्रभवा हि सम्पदः ।।2।।

न च धनहानिवृद्धिसङ्ग्रहादिगुह्यम् परेभ्यः प्रकाशयेत्। यतः -

"स्वकीयं दारमाहारम्, सुकृतम् द्रविणम् गुणम्। दुष्कर्म मर्म मन्त्रं च, परेषां न प्रकाशयेत् ।।1।।"

नापि तत्स्वरूपं केनापि पृष्टः कूटं वदेत्, किन्तु किमनेन प्रश्नेनेत्यादिभाषासमित्या प्रत्युत्तरयेत्। नृपगुर्वादिप्रश्ने तु यथास्थितमेव वाच्यम्। यतः -

"सत्यं मित्रै प्रियं स्त्रीभिरलीकमधुरं द्विषा। अनुकूलं च सत्य ञ्च, वक्तव्यं स्वामिना सह।।1।।"

सत्यवादो हि पुंसः परा काष्ठा, तत एव विश्वासाद्युपत्तेः। श्रूयते हि ढिल्ल्यां साधुमहणसिंहः सत्यादीति ख्यातिं श्रुत्वा परीक्षार्थं सुरत्राणेन तव कियत्सङ्ख्यं धनमस्तीति? पृष्टो लेख्यकं विलोक्य विज्ञापयिष्यामीत्युक्त्वा सर्वं लेख्यकं सम्यक् कृत्वाराज्ञोऽग्रे चतुरशीतिटङ्कलक्षा (सहस्रा) मद्गृहे सम्भविनोऽनुमानेनेत्यूचे। 'मया स्तोकं श्रुतमनेन बहूक्तम्' इति सत्योक्तिहृष्टो नृपस्तं कोशाध्यक्षं चक्रे।

तथा स्तम्भतीर्थ विषमेऽपि सत्यवादी सौवर्णिक भीमस्तपाश्रीजगच्चन्द्रसूरिभक्त: श्रीमल्लीचैत्यान्त: शस्त्रीकरैर्बाहुजैर्बन्दीकृत: । तत्सुतै: पितृमोचनार्थं चतु:सहस्त्रीकूटटड.कानयने बाहुजै: परीक्षाकारणे यथास्थितोक्त्या तुष्टैर्मुक्त: । विषमे साहाय्यार्थे च समानधर्मधनप्रतिष्ठादिगुणं सुबुद्धिमन्त्रिर्लोभं च मित्रमेकं कुर्यात् । यदुक्तम् रघुकाव्ये-

''हीनान्यनुपकर्तृणि विवृद्धानि विकुर्वते । राज्ञामध्यमशक्तीनि, मित्राणि स्थापितान्यत: ।।1 ।।''

अन्यत्रापि-

''तत्र तिष्ठति न भ्राता, न पिताऽन्योऽपिवा जन: । पुंसामापत्प्रतीकारं, सन्मित्रं यत्र तिष्ठति ।।1 ।।

ईश्वरेण समं प्रीतिर्न मे लक्ष्मण ! रोचते । गत्ते च गौरवं नास्ति, आगते च धनक्षय: ।।2 ।।

इति युक्तोक्तिसद्भावेऽपि यदि महता सह कथमपि प्रीति: स्यात्तदा दु:साधकार्यसिद्धयादयोऽनेकेगुणा:। यत :-

''आपण पइं प्रभु होई, इकि प्रभु किज्जइ हत्थि । कज्जकरे वा माणुसह, अवर उमग्ग न अत्थि ।''

लघुरपि च मित्रीकृतो महतोऽप्यवसरे महते गुणाय स्यात् । उक्तञ्च पञ्चाख्याने-

''कर्तव्यान्येव मित्राणि, सबलान्यबलान्यपि । हस्तियूथं बने बद्धं, मूषकेण विमोचितम् ।।1 ।।''

नहि लघुसाध्यानि कर्याणि महद्भि: समुदितैरपि साधयितुं शक्यानि । सूचीकार्यं हि सूच्यैव सिद्धयति न तु खड्गा-

दिभिः । तृणकार्य तृणेनैव न तु गजादिभिः । तदवादिष्म-

"तृण-कण-लवणानल-जल-कज्जल-गोमय-मृदश्म-भस्मादयः ।

सूचीचूर्णौषधकुञ्चिकादि चानन्यसमकार्यम् ।।1।।

मुखदाक्षिण्यादि तु दुर्जनादिभिरपि न जह्यात् । यतः -

"सद्भावेन हरेन्मित्रं, सन्मानेन च बान्धवान् । स्त्रीभृत्यान्प्रेमदानाभ्याम्, दाक्षिण्येनेतरं जनम् ।।1।।

क्वचिच्च स्वकार्यसिद्ध्यै खलानपि पुरस्कुर्यात् । यदभ्यधिष्म-

"खलान् क्वापि पुरस्कृत्य, स्वकृत्यं साधयेद्बुधः । रसभुक क्लेशरसिकान्, रसना दशनानिव ।।1।।

प्रायः कण्टकसण्टङ्क, विना निर्वाह एव न । क्षेत्रग्रामगृहाराममुख्यरक्षा हि तद्वशा ।।2।।"

प्रीतिपदे च सर्वथा सम्बन्धादि वर्जयेत् । यतः-

"कुर्यात्तत्रार्थसम्बन्धमिच्छेद्यत्र न सौहृदम् । यदृच्छया न तिष्ठेच्च, प्रतिष्ठाभ्रंशभीरुकः ।।1।।"

सोमनीतावपि- "अर्थसम्बन्धः सहवास श्च नो अकलहः।" न च साक्षिणं विनामित्रगृहेऽपि स्थापनिकास्थापनं मित्रादिहस्ते न स्वद्रव्यप्रेषणाद्यपि युक्तमविश्वासस्यार्थमूलत्वाद्विश्वासस्य चानर्थमूलत्वात् । यदाह-

"न विश्वसेदविश्वस्ते, विश्वस्तेऽपि न विश्वसेत् । विश्वासद्भयमुत्पन्नं, मूलादपि निकृन्तति ।।1।।"
गुप्तमुक्तस्थापनिकया च को वा सुहृदपि न लोलुभ्यते। भण्यतेऽपि-

"निक्षेपे पतिते हर्म्ये, श्रेष्ठी स्तौति स्वदेवताम्। यदीशो म्रियतामाशु, तुभ्यं दास्यामि याचितम्।।1।।"

अस्माभिरप्युक्तम्

"अत्थो नूणमणत्थो, अग्गीव परं गिहीण तेण विणा । कहमविन हु निव्वाहो, ता तं जुत्तीइ रक्खिज्जा ।।"

अत्र श्रेष्ठिधनेश्वरसम्बन्धा :-

यथा स स्वगृहसारमेकीकृत्य कोटि कोटि स्वर्णमूल्यान्यष्टौ रत्नानि स्वप्रियापुत्रादिभ्योऽपि प्रच्छन्नम् मित्रहस्ते न्यासीकृत्य धनार्जनार्थम् विदेशे गतो, बहुकालं स्थितो दूदैवादाकस्मिकामान्द्येनान्त्यावस्थां प्राप्तः। यतः-

"अन्नह परिचिंतिज्जइ, सहरिसं कुंदुज्जलेण हिअएण। परिणमइ तं तु अन्नह, कज्जारंभो विहिवसेणम् ।।1।।"

तदा चासन्नसुजनैर्द्रव्यादिस्वरूपं पृष्टः प्राह-विदेशार्जितं मद्धनं भूयस्तरमपीतस्ततः स्थितं पुत्रादिभिर्दुग्रहं, परं मित्रहस्तन्यस्तं रत्नाष्टकं प्रियापुत्रादीनां दाप्यमित्युक्त्वा स मृतः । तैस्तत्स्वरूपे ज्ञापिते पुत्रादिभिर्विनयस्नेहबहुमानदोदूयाभयदर्शनाद्यनेकप्रकारैर्मार्गणेऽपि लुब्धेन मित्रेण तन्न मानितम् नार्पितञ्च । व्यवहारकारणे साक्षिणो लिखिताद्यभिज्ञानस्य चाभावाद् भूपत्यमात्या-

दिभिरपि दापयितुं न शक्तं। यस्य तस्यापि साक्षिणः करणे चौरादिगृहीतमपि जातु पश्चाद्वलते। यथा बहुवित्तवणिजा धूर्तेन विदेशे मार्गे तस्करघाटीमिलने जोत्कारकरणे तैर्द्रव्यं मार्गितम्। तेनोक्तम्-साक्षिणं कृत्वा सर्वं गृह्णन्तु। पुनरवसरे भवद्भिर्ममार्प्यमहं च न मार्यः। ततस्तैर्वैदेशिको मुग्धोऽयमिति मत्वाऽरण्यमार्जारं कर्बुरं साक्षीकृत्य सर्वस्वं लात्वा मुक्त। स परंपरया तत्स्थानाद्यवगत्य स्वग्रामं गतः। कियति काले तद्वासग्रामसत्काः सतस्कराः केऽपि बहु वस्तु लात्वा तत्रागताः। तेन स्वद्रव्यमार्गणे मिथः कलहे न्यायकरादिभिः 'साक्षी कोऽप्यस्ति? इति पृष्टे वणिजा कृष्णमार्जरमेकं सउडिमध्ये क्षिप्त्वोक्तम् 'एष साक्षी' तस्करे रूक्ते विलोक्यते। भोः कीदृशः साक्षी ? तत स्तेन स दर्शित तैरुक्तम्। 'एष स न कृष्णत्वात् स तु कर्बुरोऽभूत' इति स्वमुखेनैव माननान्यायकरादिवलेन सर्व स्वद्रव्यं पश्चागृहीतं तेनेति साक्षिकरणे कथानकम्। तस्मात्स्थापनिका गुप्तवृत्त्या न मोच्या न ग्राह्या वा, किन्तु कियत्स्वजनसमक्षमेव मोच्या ग्राह्या च। न च धनिकानुमतिं विना सा चालयितुमपि युज्यते किं पुनर्वाणिज्यादौ व्यापारयितुं। जातु न्यासकृदन्यत्र मृतस्तदा तत्सुतादेः सार्पणीया। तत्सुताद्यभावे तु सर्वसमक्षं धर्मस्थाने व्ययितव्या नाप्युद्धारनिक्षेपादि समग्रायव्ययटिप्पनादौ स्वल्पमप्यालस्यं कुर्यात्। यत उक्तम्-

"ग्रन्थिबन्धे परीक्षायां, गणने गोपने व्यये। लेख्यके च कृतालस्यो, नरः शीघ्र विनश्यति ॥1॥"

भ्रान्तिबहुलो हि जन्तुष्टिप्पनादि विना भ्रान्तौ मुधा कर्मबन्धादि दोषोऽपि। योगक्षेमादिसिद्ध्यर्थं च रविरिवेन्दुना राजादिः कश्चिन्नायकोऽप्यनुसरणीयो ऽन्यथा पदे पदे पराभवादिभावात्। उक्तञ्च-

सुहृदामुपकारकारणाद् द्विषतां चाप्यपकारकारणात् । नृपसंश्रय इष्यते बुधैर्जठरं को न बिभर्ति केवलम् ।।1।।

मंत्रिवस्तुपालसाधुपेथडाद्यैरपि नृपाश्रयेणैव प्रासादाद्यनेकतत्तत्पुण्यकृत्यानि चक्रिरे। तथा द्यूतधातुवादात् दूरतः परिवर्जयेत्। यतः -

"जूअं धाउव्वाओ, अंजणसिद्धी रसायणे तण्हा। जक्खिणि विवरपवेसो, दइवे रुट्ठे मई होई।।1।।"

यथा तथा शपथादिकं च न विदध्याद्विशिष्य च देवगुर्वादिविषयं। तदभिहितम्-

अलिएणवि सच्चेण वि, चेईअसम्मं करेइ जो मूढो। सो वमइ बोहिबीअं, अणंतसंसारिओ होइ।।1।।

नापि परप्रतिभूत्वादिसंकटे प्राविशेत्। यत्कार्पासिक :-

अनीश्वरस्य द्वे भार्ये, पथि क्षेत्रं द्विधाः कृषिः। प्रतिभाव्यं च साक्ष्यञ्च, पंचानर्थाः स्वयं कृताः ।।1।।

तथा मुख्यवृत्त्या निवासग्राम एव वाणिज्यादि कार्यम्। तथा सति कुटुम्बवियोगगृहकार्य-धर्मकार्याद्यसीदत्तादयो गुणाः। तथा निर्वाहाभावे निवासदेशान्तर्व्यवहरेदेवमपि शीघ्रं शीघ्रं निजस्थानागमनसम्भवादिना प्रायः पूवोक्ता गुणाः। को हि नाम पामरोऽपि निजस्थाने निर्वाहसम्भवे देशान्तरक्लेशमाश्रयेत्। उक्तमपि-

जीवन्तोऽपि मृताः पञ्चश्रूयन्ते किल भारत ! दरिद्रो व्याधितो मूखेः, प्रवासी नित्यसेवकः ।।1।।

अन्यथा च निर्वोढूमशक्तो यदि देशान्तरे व्यवहारं कुर्यात्तथापि न स्वयं नापि पुत्रादिभिः। किन्तु सुपरीक्षितवाणिक पुत्रादिभिः । जातु स्वयमेव देशान्तरे यायात् तदापि समुहुर्त्तशकुननिमित्तदेवगुरूवन्दनादिमंगल्यविधिना बहुभाग्यवत्सार्थ मध्यवर्ती निद्रादिप्रमादवर्जी कियद्भिः स्वकीयज्ञातीयसुपरिचितादिभिः सहैव सुयत्नेनैव व्रजेद व्यवहरेत्तिष्ठेच्च । भाग्यवता चैकेनापि सार्थस्य विघ्नं टलति । यथैकविंशतिः पुरुषाः वर्षासु ग्रामान्तरे यान्तः सायं देवकुले स्थितास्तदा विद्युद् द्वारमागत्यागत्य याति, तैश्च भीत्योक्तम् 'कोऽप्यात्मसु निर्भाग्योऽस्ति इत्येकैको देवकुलात् परितो भ्रान्त्वा आयातु' तथा कृत्वा विंशतिः प्रविष्टाः। एकविंशे बलाद्बहिः कृष्टे विंशतेर्मूर्ध्नि विद्युत्पपात। तेष्वेक एव भाग्यवांस्ततो भाग्यवत्सार्थो ग्राह्यः। लभ्यदेयनिध्यादि च सर्वं पितृभ्रातृपुत्रादीनां च सर्वदा पि ज्ञापयेत् विशिष्यच प्रस्थानावसरे, अन्यथा दुर्दैवा त्तस्यायुः समाप्तौसत्य पि विभवे पित्रादीनां मुधा दारिद्यादिदुःखंकृत स्यात्, स्वकीयांश्च सर्वानपि यथार्हचिन्ताकरणशिक्षाप्रदानपूर्व सबहुमानं संभाष्यैव प्रतिष्ठते। उक्तञ्च-

"अवमन्य माननीयान्निर्भर्त्स्य च कमपि संताड्य। बालमपि रोदयित्वा, जिजीविषुर्नैव निर्गच्छेत्"

आसन्नं च विशेषपर्वोत्सवादि कृत्वा व्रजति। यत :-

"उत्सवमशनं स्नानं प्रगुणं चोपेक्ष्य मंगलमशेषम् । असमापिते च सूतकयुगेऽङगनतौ च नो यायात् ।।1।।"

एवमन्यदपि शास्त्राद्यनुसारेण यथोचितं चिन्तनीयम् । तथा चाह–

"क्षीरं भुक्त्वा रतं कृत्वा, स्नात्वाहत्य गृहांगनाम्। वान्त्वा निष्ठीव्य चाक्रोशं, श्रुत्वा च प्रचलेन्नहि ।।1।।

कारयित्वा नरः क्षौरमश्रुमौक्षं विधाय च। गच्छेद् ग्रामान्तरे नैव, शकुनापाटवेन च ।।2।।
कार्याय चलितः स्थानाद्वहन्नाडिपदं पुरः। कुर्वन् वांछितसिद्धीनां, भाजनं जायते नरः ।।3।।
रोगिवृद्धद्विजान्धानां, धेनुपूज्यक्षमाभुजाम्। गर्भिणीभार भुग्ननां, दत्त्वा मार्गे व्रजेद् बुधः ।।4।।
धान्यं पक्वमपक्वंवा, पूजार्हं मन्त्रमण्डलम्। न त्यक्तोद्वर्तनं लंघ्यं स्नानाभोऽसृक्शवानि च ।।5।।
निष्ठ्यूत श्लेष्मविण्मूत्र, ज्वलद्वह्निभुजंगमान्। मनुष्यमायुधं धीमान्, कदाप्युलङघ.येन्न च ।।6।।
नदीतीरे गवां गोष्ठे, क्षीरवृक्षे जलाश्रये। आरामेषु च कूपादाविष्टबंधु विसर्जयेत् ।।7।।
क्षेमार्थी वृक्षमूलं न, निशीथिन्यां समाश्रयेत्। नासमाप्ते नरो दूरं, गच्छेदुत्सवसूतके ।।8।।
नासहायो न चाज्ञातैर्नैव दासैः समं तथा। नातिमध्यंदिने नार्द्धरात्रे मार्गे बुधो व्रजेत् ।।9।।
क्रूरैरारक्षकैः कर्णेजपैः कारुजनैस्तथा। कुमित्रै श्च समं गोष्ठी, चर्या चाकालिकीं त्यजेत् ।।10।।
महिषाणां खराणाञ्च, धेनूनां चाधिरोहणम्। खेदस्पृशापि नो कार्यमिच्छता श्रियमात्मनः ।।11।।
गजात्करसहस्रेण शकटात्पञ्चभिः करैः। शृंगिणोऽश्वाच्च गन्तव्यं, दूरेण दशभिः करैः ।।12।।
नाशम्बल श्चलेन्मार्गे, भृशं सुप्यान्न वासरे। सहायानां च विश्वासं, विद्धीत न धीधनः ।।13।।
एकाकिनां न गन्तव्यं, यदि कार्यशतं भवेत्। पश्य कर्कटमात्रेण, ब्राह्मणः परिरक्षितः ।।14।।
एकाकिनां न गन्तव्यं, कस्याप्येकाकिनो गृहे। नैवापरपथेनापि, विशेत्कस्यापि वेश्मनि ।।15।।

न जीर्णो नावमरोहेन्नद्यामेको विशेन्न च। न चातुच्छमतिर्गच्छेत्सोदर्येण समं पथि ।।16।।
न जलस्थलदुर्गाणि, विकटामटवीं न च। न चागाधानि तोयानि, विनोपायं विलङ्घयेत् ।।17।।
भूयांसः कोपना यत्र, भूयांसः सुखलिप्सवः। भूयांस कृपणा यत्र, स सार्थः स्वार्थनाशकः।।18।।
सर्वे यत्रच नेतार, सर्वे पण्डितमानिनः। सर्वे महत्वमिच्छन्ति, तद्वृन्दमवसीदति ।।19।।
बद्धयवध्याश्रये द्यूतस्थाने परिभवास्पदे। भाण्डागारे न गन्तव्यं, परस्यान्तःपुरे न च ।।20।।
अमनोज्ञे श्मशाने च, शून्यस्थाने चतुष्पथे। तुषशुष्कतृष्णाकीर्णे, विषमावकरोषरे ।।21।।
वृक्षाग्रे पर्वताग्रे च, नदीकूपतटे स्थितिम्। न कुर्याद् भस्मकेशेषु, कपालाङ्गारकेषु च ।।22।।
कालकृत्यं न मोक्तव्य-मतिखिन्नैरपि ध्रुवम्। नाप्नोति पुरुषार्थानां, फलं क्लेशजितः पुमान।।23।।
भवेत्परिभवस्थानं, पुमान् प्रायो निराकृतिः। विशेषाडम्बरस्तेन, न मोच्यः सुधिया क्वचित् ।।24।।

देशान्तरगत श्च विशिष्य यथार्हाडम्बरसर्वाङ्गीणधर्मनिष्ठो भूयात्तथैव महत्त्वबहुमानविलोक्यमान-कार्यसिद्ध्यादिसम्भवात्। विदेशे च बहुबहुलाभाप्तावपि नातिबहु तिष्ठेद् बहुस्थितौ गृहसूत्रवैसंस्थु- ल्यादिदोषापत्तेः, काष्ठश्रेष्ठयादेरिव । समुदितक्रय-विक्रयादिप्रारंभे चाविघ्नेनाभिमतलाभादिकार्य सिद्ध्यथ पंचपरमेष्ठिस्मरण श्री गौतमदिनामग्रहणकियत्तद्वस्तुश्रीदेवगुर्वाद्युपयो-गित्वकरणादि कर्त्तव्यम् धर्मप्राधान्येनैव सर्वत्र साफल्यभावात्। धनार्जनार्थमुपक्रमं कुर्वाणेन च सप्तक्षेत्रीव्ययादिधर्ममनोरथा निरन्तरं महान्त एव कर्तव्याः। ऊचुश्च-

"उच्चैर्मनोरथाः कार्याः, सर्वदैव मनस्विना। विधिस्तदनुमानेन, संपदे यतते यतः ।।1।।
यत्नः कामार्थयशसां, कृतोऽपि विफलो भवेत् । धर्मकर्मसमारम्भसङ्कल्पोऽपि न निष्फलं ।।2।।"

लाभसंभवे च तदनुरुपं तान् मनोरथान् सफलीकुर्यात्। यतः-

"ववसायफलं विहवो, विवहस्स फलं सुपत्तविणिओगो। तयभावे ववसाओ, विवहोवि अ दुग्गइनिमित्तम्"

एवं च निजऋद्धे धर्मर्द्धित्वं स्यादन्यथा तु पापर्द्धित्वं। उक्तञ्च-

"धम्मिड्ढी भोगिड्ढी, पाविड्ढी इअ तिहा भवे इड्ढी।सा भन्नइ धम्मिड्ढी, जा दिज्जइ धम्मकजेसु।।1।।
"सा भोगिड्ढी गिज्जइ, सरीरभोगम्मि जीइ उवओगे।जा दाणभोगरहिआ, सा पाविड्ढी अणत्थफला।।2।
"पाविड्ढी पाविज्जइ, फलेण पावस्स पुव्वविहिअस्स।पावेण भाविणा वा, इत्थत्थे सुणह दिट्ठंतं।।3।।'

वसन्तपुरे चत्वारो मित्राणि क्षत्रियब्राह्मणवणिक्स्वर्णकाराः। देशान्तरेऽर्थोर्थ गताः। रात्रावुद्याने स्थिताः। तत्र शाखायां लम्बमानं स्वर्णपुरुषं ददृशुः। एकेनोक्तम्- 'अर्थः' स्वर्णपुरुषेणोक्तम्- 'अर्थः पुनरनर्थप्रदः,' तत् श्रुत्वा सवैर्भीत्या त्यक्तः। स्वर्णकारेणोक्तम् 'पत' पश्चात्पतितः। तेनाङ्गुलिं कर्तयित्वागर्तायां क्षिप्तः सर्वैरपि दृष्टः। तेषा मध्ये द्वयं भोजनानयनाय पुरान्तर्गतम्। द्वयं तु बहिः स्थितम्। मध्यगतद्वयेन बहिस्थतन्मारणाय विषान्नमानीतम्, बहिःस्थितेन मध्यादागच्छद् द्वयं खड्गेन हत्वा विषान्नं भुक्तम्। सर्वे मृताः एषा पापर्द्धिः। अतो देवपूजान्नदानदिकैः प्रत्यहं पुण्यैः संघपूजा साधर्मिकवात्सल्यादि-कैरवसपुण्यैश्च निजर्द्धिः पुण्योपयोगिनी कार्या। यद्यप्यवसरपुण्यानि बहुव्ययसाध्यत्वेन महान्ति प्रत्यहं पुण्यानि च लघूनि तथापि

प्रत्यहं पुण्येषु निरन्तरं भवत्सु भूयस्तरं फलं, तत्पूर्वकमेवावसरपुण्य-करणस्यौचित्यात् । न च धनस्तोकत्वादिना धर्मकार्याविलम्बादि कार्यम् ।

यदुवाच-

"देयं स्तोकादपि स्तोकं, न व्यक्षेपो महोदयः । इच्छानुसारिणी शक्तिः, कदा कस्य भविष्यति ।।1।।
श्वःकार्यमद्य कुर्वीत, पूर्वाह्ने चापराह्निकम् । नहि मृत्युःप्रतीक्षेत, कृतं चास्य न वा कृतम् ।।2।।"

अर्थार्जनार्थमपि यथार्हं प्रत्यहं प्रयतते । यत :-

"वाणिग् वेश्या कविर्भट्टस्तस्करः कितवो द्विजः । यत्रापूर्वार्थलाभोन, मन्यते मदहर्वृथा ।।1।।

न च स्वल्पसंपदैव तदुद्यमान्निवर्तते । यन्माघ :-

"संपदा सुस्थितंमन्यो, भवति स्वल्पयापि यः । कृतकृत्यो विधिर्मन्ये, न वर्द्धयति तस्य ताम् ।।1।।"

नाप्यतितृष्णां कुर्यात् । यल्लोकेऽप्युक्तम्-

"अतिलोभो न कर्तव्यो, लोभं नैव परित्यजेत् । अतिलोभाभिभूतात्मा, सागरः सागरं गतः ।।1।।"

न च यावदित्थं कस्यापि प्राप्तिसम्भवो, नहि रंक श्चक्रित्वाद्युच्चैरभिलषन् अपि कदाप्याप्नोति । भोजनाच्छादनादि तु प्राप्नोत्यपि । तदवादिष्म-

"स्वानुमित्या मितीकुर्यादिच्छामिच्छाफलार्थिकः । लोकेऽपि लभ्येत मितं, मार्गितम् नामितं क्वचित् ।।1।।"

ततः स्वभाग्याद्यनुसारेणैवेच्छां कुर्यादधिकाधिकेच्छायां तु तदलाभात्तदर्त्यातिदुःखितैव स्यात्। कोटीपूरणार्थबहुक्लेशसासहि-नवनवतिटंकलक्षाधिपधनश्रेष्ठ्यादिवत्। आख्यांत च-

"आकंक्षितानि जन्तूनां, संपद्यन्ते यथा यथा। तथा तथा विशेषाप्तौ, मनो भवति दुःखितम् ।।1।।

आशादासस्तु यो जातो, दासस्त्रिभुवनस्य सः। आशा दासी कृता येन, तस्य दास्ये जगत्त्रयी।।2।।

गृहस्थेन चान्योन्याप्रतिबन्धेन त्रिवर्गोऽपि साध्यः। यत् :-

"धम्मो अत्थो कामो, पुरिसत्था वन्निया तओ लोए। तिण्हंपि जहावसरं, सेवा संसिज्जइ बुहेहिं ।।1।।"

तत्र धर्मार्थयोरुपघातेन तादात्विकविषयसुखलुब्धो वनगज इव को नाम न भवत्यास्पदमापदां। न च तस्य धनं धर्मः शरीरं वा यस्य कामेऽत्यन्तासक्तिः। धर्मकामातिक्रमाद्धनमुपार्जितम् परेऽनुभवन्ति, स्वयं तु परं पापस्य भाजनं सिंह इव सिन्धुरवघात्। अर्थकामातिक्रमेण च धर्मसेवा यतीनामेव धर्मो न गृहस्थानां। न च धर्मबाधयार्थकामौ सेवेत, यतो बीजभोजिनः कुटुम्बिन इव नासत्यधार्मिकस्यायत्यां किमपि कल्याणम्। उक्तञ्च सोमनीतावपि- "स खलु सुखी योऽमुत्र सुखाविरोधेनेह- लोकसुखमनुभवतीति।" एवमर्थबाधया धर्मकामौ सेवमानस्य ऋणाधिकत्वम्, कामबाधया धर्मार्थौ सेवमानस्य गर्हस्थ्यसुखाद्य-भाव स्यात्। एवञ्च तादात्विक-मूलहर -कदर्येषु - धर्मार्थकामनामन्योन्यबाधा सुलभैव। तथाहि-

यः किमप्यसञ्चिन्त्योत्पन्नमर्थमपव्येति स तादात्विकः १। यः पितृतैतामहमर्थमन्यायेन भक्षयति स मूलहरः २। यो भृत्यात्मपीडाभ्यामर्थ सञ्चिनोति न च क्वचिदपि व्ययते स कदर्यः ३। तत्र तादात्विकमूलहरयोरर्थभ्रंशेन धर्मकामयोर्विनाशा

न्नातिकल्याणं । कदर्यस्य त्वर्थसंग्रहों राजदायादभूमितस्कारादीनां निधिर्न तु धर्मकामयोर्हेतुः । यतः-

"दायादाः स्पृहयन्ति तस्करगणा मुष्णन्ति भूमीभुजो, गृहणन्ति छलमाकलय्य हुतभुग् भस्मीकरोति क्षणात्
अम्भः प्लावयते क्षितौ विनिहतं यक्षा हरन्ते हठात्, दुर्वत्तास्तनया नयन्ति निधनं धिग् बह्वधीनं धनम् ।।1।।
मृत्युः शरीरगोप्तारं, रक्षितारं धनं धरा। दुश्चारिणीव हसति, स्वपतिं पुत्रवत्सलम् ।।2।।
कीटिकासञ्चितं धान्यं, मक्षिकासञ्चितं मधु। कृपणोपार्जिता लक्ष्मीः, परैरेवोपभुज्यते ।।3।।"

अतस्त्रिवर्गस्य बाधा गृहस्थस्य कर्तुमनुचिता, यदा तु देववशाद्भवति, तदोत्तरोतरबाधायां पूर्वपूर्वबाधा रक्षणीया तत्र कामबाधायां धर्मार्थयोर्बाधा रक्षणीया, तयोः सतोः कामस्य सुकरोत्पादत्वात् । कामार्थयोधायां धर्मो रक्षणीयो धर्ममूलत्वादर्थकामयोः । उक्तञ्च-

"धर्म श्वैन्नावसीदेत, कपालेनापि जीवतः। आढ्योऽस्मीत्यवगन्तव्यं धर्मवित्ता हि साधवः ।।1।।"

त्रिवर्गसंसाधनमन्तरेण, पशोरिवायुर्विफलं नरस्य । तत्रापि धर्म प्रवरं वदन्ति, न तं विना यद्भवतोऽर्थकामौ।"

आयोचितश्च व्ययः । यन्नीतिशास्त्रम् -

"पादमायान्निधिं कुर्यात्पादं वित्ताय कल्येत्। धर्मोपभोगयोः पादम्, पादं भर्त्तव्यपोषणे ।।1।।"

कोचित्त्वाहु :-

"आयादर्द्ध नियञ्जीत, धर्मे समधिकं ततः। शेषेण शेषं कुर्वीत, यत्नतस्तुच्छमैहिकम्।।1।।"

निर्द्रव्यद्रव्ययोरयं विभाग इत्यप्येके। तथा :-

"जीअं कस्स न इट्ठम्, कस्स व लच्छी न वल्लहा होइ। अवसरपत्ताइं पुणो दुन्नवि तणताउ लहुअंति ।।1।।"

"यशस्करे कर्मणि मित्रसंग्रहे, प्रियासु नारीष्वधनेषु बंधुषु।
धर्मे विवाहे व्यसने रिपुक्षये, धनव्ययोऽष्टासु न गण्यते बुधैः ।।2।।"
यः काकणीमप्यपथप्रपन्नामन्वेषते निष्कसहस्रतुल्याम् ।
काले च कोटिष्वपि मुक्तहस्तस्तस्यानुबन्धं न जहाति लक्ष्मीः ।।3।।

यथा कस्यापीभ्यस्य नव्या स्नुषा श्वसुरं दीपोत्पतिततैलच्छटया उपानहमभ्यञ्जन्तं वीक्ष्य किमिदमतिकार्पण्यमुतातिवैविक्त्यमिति सन्दिहाना परीक्षार्थं मे शीर्षं दुष्यति' इति मिषात्सुप्ता भृशं क्रन्दन्ति। श्वशुरेण बहुप्रतिकारकरणे तयोक्तम्, 'मम प्रागप्यन्तरान्तरा एवं मान्द्यं स्याद् गुणस्तु जात्यमुक्ताफलचूर्णलेपेनैव स्यात्,' तदा श्वशुरो हृष्टः तान्यानीय यावद् वर्तयति, तावत्तया सम्यक् स्वरूपमुक्तम्। धर्म्ये व्ययश्च श्रीवशीकरणं तेनैव तस्याः स्थिरीभावात्। भाष्यतेऽपि-

"मां मंस्थाः क्षीयते वित्तम्, दीयमानं कदाचन। कूपारामगवादीनां, ददतामेव सम्पदः ।।1।।"

यथाहि-विद्यापतिश्रेष्ठी बहुसमृद्धो दशमदिने यास्यमीति स्वप्नान्तर्लक्ष्म्योक्तः कान्तागिरा तद्दिन एव सर्वं धनं, सप्तक्षेत्रादौ व्यय्य कृतपरिग्रहमानः सुखं सुप्तः, प्रातर्गृहं प्राग्वत् पूर्णं दृष्ट्वा पुनः सर्वं व्ययतिस्म। एवं नवदिनी गता, दशमदिने 'त्वत् पुण्यैरहं सुस्थिरीभूता' इति लक्ष्म्योक्ते व्रतभंगभिया पुरं त्यक्त्वा बहिःस्थोपुत्रनृपमृतरेधिवासितगजेनाभिषिक्तो

दिव्यगिरा जिनं राजानं कृत्वां राज्यं निर्वाह्य पञ्मभवे सिद्धः । एवं चार्थोपार्जनमशंकनीयत्वप्रशंसनीयत्वहान्य-विषयत्वसुख समाधिवृद्धिहेतुत्वपुण्य- कार्योपयोगित्वादिनेहलोकपरलोकहितम् । पठितञ्च-

"सर्वत्र शुचयो धीराः, स्वकर्मबलगर्विताः । कुकर्मनिहतात्मानः, पापः सर्वत्र शुङिःकताः ।।1।।"

अत्र ज्ञातम् । यथा-देव-यशोनामानौ द्वौ वणिजौ मिथः प्रीत्या सह व्यवहरन्तौ क्वापि पुरे मार्गे मणिकुण्डलं पतितं ददृशतुः । आद्यः सुश्रावकत्वात् दृढव्रतः परद्रव्यं सर्वथानर्थभूतं मन्वाः? पश्वादेव निवृत्तः । द्वितीयोऽपि सह निवृत्तः परं न पतितग्रहणेऽधिकदोषः इति ध्यात्वा वृद्धस्य दृष्टिं वंचयित्वा तज्जगृहे दध्यौ च "धन्योऽयं यस्येदृशी निःस्पृहता । परं मित्रत्वात् संविभागिनं करिष्याम्येनं सुयुक्त्या" इति। तद् गुप्तीकृत्यान्यत्र पुरे गत्वा तेन कुण्डलेन प्रभूतभाण्डमाददे। क्रमात्स्वस्थानमागतौ तौ । आनीतभाण्डविभजनेऽतिप्रभूतं भाण्डं दृष्ट्वा देवेन निर्बन्धात् पृष्टः स यथावदाचष्ट । देवेनोक्तमन्यायार्जितमिदं सर्वथा न ग्रहणार्हम् । अनेन न्यायार्जितस्वधनस्याप्यवश्यं विनाशः स्यात् काञ्जिककेनेव दुग्धस्येत्युक्त्वा तत्सर्व पृथक् कृत्य तस्मै दत्तम् । एवमागतं वित्तं कथम् त्यज्यते? इति लोभात् सर्व स्वभाण्डशालायां गृहीत्वा गतः । रात्रौ च चौरैः सर्व मुषितम् । प्रभाते तद्वस्तुग्राहकैरतिप्रभूतैरागतर्देवस्य द्विगुणमूल्यादिनाऽतिलाभो जातः । ततो द्वितीयोऽपि सुश्रावकीभूय व्यवहारशुद्ध्या धर्मार्जनात्सुखी जज्ञे । इति न्यायान्यायधनार्जने मित्रद्वयवृत्तम्।

अत्रैव लौकिकं ज्ञातम् । यथा-

चंपायां सोमः क्ष्मापतिः सूर्यपर्वणि दानार्थं शुभं द्रव्यं योग्यं च पात्रं मन्त्रिपार्श्वे पप्रच्छ। मन्त्राह-पात्रमेकोऽत्र विप्रोऽस्ति

परं शुभद्रव्यं दुर्लभं, विशिष्य च राज्ञः । यत :-

“दातुर्विशुद्धचित्तस्य, गुणयुक्तस्य चार्थिनः । दुर्लभः खलु संयोगः, सुबीजक्षेत्रयोरिव ।।1।।”

ततो नृपः पर्वोपरि (सर्वोपरि) पात्रदानायाष्टदिन रात्रौ नष्टचर्यया वणिजां हट्टषु वणिकपुत्रार्ह कर्म निर्माय तन्मूल्येऽष्टो द्रम्मानर्जयामास । पर्वणि च सर्वान् द्विजानाकार्य पात्रविप्राकारणाय प्रधानं प्रैषीत् । तेन गत्वा स आकारितः। प्रत्याह-

“यो राज्ञः प्रतिगृह्णाति, ब्राह्मणो लोभमोहितः । तमिस्त्रादिषु घोरेषु, नरकेषु स पच्यते ।।1।।

राज्ञः प्रतिग्रहो घोरो, मधुमिश्रविषोपमः । पुत्रमांसं वरं भुक्तं, न तु राज्ञः प्रतिग्रहः ।।2।।

दशशूनासमश्चक्री, दशचक्रिसमो ध्वजः । दशध्वजसमा वेश्या, दशवेश्यासमो नृपः ।।3।।

इति पुराणस्मृत्यादिवचनाद् दुष्टं राजप्रतिग्रहं न गृह्णामि । प्रधानेनोक्तम्-“राजा न्यायेन स्वभुजार्जितम् सद्वित्तमेव दास्यति तद्ग्रहणे तव न कश्चिद्दोषः,” इत्याद्युक्त्या प्रवोध्य तं राज्ञोऽन्तिकमानयत् । राज्ञा दृष्टेन स्वासनढौकनपाद-धावनादिबहुविनयेन तेऽष्टौ द्रम्मास्तन्मुष्टिमध्येऽक्षिप्यन्त। ‘अस्मै किञ्चित्सारमर्पितं’ इति किञ्चित्सरूषोऽप्यन्ये विप्रा हेमादिदानतः समतोषयन्त । सर्वे च विसृष्टाः। षण्मास्यादिना तस्सर्व क्षीणं तेषां। ते त्वष्टौ द्रम्माः पात्रद्विजेन भोजनवेषप्रमुखकार्येषु व्यापार्यमाणाअपि न्यायर्जितत्वेन नाक्षीयन्त । चिरेणाप्यक्षयनिधिवत्सुबीजवच्च श्रियोवृद्धथै जज्ञिरे । इति न्यायार्जितवित्ते सोमनृपप्रबन्धः ।

इह न्यायार्जितवित्तसत्पात्रविनियोगाभ्यां चतुर्भङ्गी । तत्र न्यायागतविभवसत्पात्रविनियोगरूपः प्रथमो भंगोऽक्षेपेण पुण्यानुबन्धिपुण्यहेतुत्वात्सुदेवत्वभोगभूमिमनुष्यसम्यक्त्वादिप्राप्त्या आसन्न सिद्धिफलो धनसार्थवाहशालिभद्रादिवत्1 ।

न्यायागतद्रव्ययत्तत्पात्रपोषरूपो द्वितीयो भंगः पापानुबन्धिपुण्यहेतुत्वाद्यत्र तत्र भवेषु भोगमात्रफलोऽपि प्रान्ते विरसफल एव, यथा लक्ष्यभोज्यकृद्विप्रो बहुभवेषु किंचिद्भोगादिसुखानि भुक्त्वा सेचनकनामा सर्वांगसुलक्षणो भद्रहस्ती जातो लक्षभोज्योद्धरिता-न्नादिसुपात्रदानदायिनिःस्वद्विजजीवं सौधर्मे सुरी भूय च्युतं श्रेणिकसुतं राजकन्यापंचशती परिणेतारं नन्दिषेणकुमारं दृष्ट्वा जातजातिस्मृतिरपि प्रथमनरकगामी २। अन्यायागतविभवसत्पात्रपरिपोषरूपस्तृतीयः सुक्षेत्रोप्तसामान्यबीजफलप्ररोहवदायतौ सुखप्रसवाबाधितया राज्ञा व्यापारिणां बह्वारंभोर्जितद्रव्याणां चानुज्ञातः। यतः-

"काशयष्टिरिवैषा श्रीरसारा विरसाप्यहो। नीतेक्षुसमतां धन्यैः, सप्तक्षेत्रीनिवेशनात् ।।1।।
खलोऽपि गवि दुग्धं, स्याद्दुग्धमप्युरगे विषम् ।पात्रापात्रविशेषेण, तत्पात्रे दानमुत्तमम् ।।2।।
सा साइ तं पि जलं, पत्तविसेसेण अंतरं गुरुअम्। अहिमुहपडिअं गरलं, सिप्पउडे मुत्तिअं होइ ।।3।।

अत्रार्बुदोपरि चैत्यकारमंत्रिविमलादयो दृष्टान्ताः प्रतीताः। महारंभाद्यनुचितवृत्तिसञ्चितं हि द्रव्यं सुक्षेत्रवापादि विना दुष्कीर्तिदुर्गतिफलमेव मम्मणश्रेष्ठ्यादिवत् ३। अन्यायार्जितार्थकुपात्रपोषरूपश्चतुर्थ इह साधुजनगर्हित्वात्परत्र कुगतिनिबन्धनत्वाच्च त्याज्य एव विवेकीनाम्। यत :-

"अन्यायोपात्तवित्तस्य, दानमत्यन्तदोषकृत्। धेनुं निहत्य तन्मांसै-र्ध्वांक्षणामिव तर्पणम् ।।1।।
अन्यायोपार्जितैर्वित्तैर्यत्, श्राद्धं क्रियते जनैः। तृप्यन्ते तेन चाण्डाला, बुक्कसा दासयोनयः ।।2।।
दत्तः स्वल्पोऽपि भद्राय, स्यादर्थो न्यायसंगतः। अन्यायात्तः पुनर्दत्तः, पुष्कलोऽपि फलोज्झितः ।।3।।

अन्यायोपात्तवित्तेन, यो हितं हि समीहते। भक्षणात्कालकूटस्य, सोऽभिवाञ्छति जीवितम् ।।4।।"

इह चान्यायार्थोपजीविनो गृहस्थादेः प्रायेणान्यायकलहाहंकारपापबुद्धिप्रवृत्तिरेव रंकश्रेष्ठ्यादिवत्। यथा-

मरुस्थल्यां पल्लीग्रामे काकुयाक-पाताकौ भ्रातरौ, तयोः कनीयान् धनी, ज्यायांस्तु निःस्वत्वेन तद्गृहे भृत्यवृत्त्या निर्वहते। एकदा वर्षारात्रौ दिवसकर्मपरिश्रान्तः काकुयाको रात्रौ प्रसुप्तः पाताकेनाभिदधे "भ्रातः! स्वकेदाराः पयःपुरैः स्फुटितसेतवस्तव तु निश्चिन्तता' इत्युपालब्धः। स तदा त्यक्तस्त्रस्तरः स्वं दरिद्र परगृहकर्मकारिणं निन्दन् कुद्दालं लात्वा यावत्तत्र याति। तावत् कर्मकरान् स्फुटितसेतुबन्धरचनापरान् दृष्ट्वा 'के यूंय?' इति पृष्टाः। 'भवद्भ्रातुः कर्मकरा' इति तैरुक्ते, 'क्वापि मदीयास्ते सन्तीति? पृष्टे 'वल्लभीपुर्यां सन्तीति' ते प्राहुः। अथ कालक्रमेण प्रस्तावं प्राप्य वल्लभ्यां गतः सकुटुम्बः। तत्र गोपुरासन्नवास्याभीराणां सन्निधौ निवसन्नत्यन्तकृशतया तैरंक इति दत्ताभिधानस्तॄणमुटजं कृत्वां तेषामवष्टंभेनाट्टं मण्डयित्वा तस्थौ। एकदा कश्चित्कार्पटिकः कल्पप्रमाणेन रैवतशैलादलाबुना सिद्धरसमादाय मार्गे 'काकुतुम्बडी' इति सिद्धरसादशरीरिणीं वाणीं निशम्य जातभीर्वलभीपरिसरे तस्य सच्छद्मनो वणिजः सद्मनि तदलाबु तत्र न्यासीचक्रे। स स्वयं सोमनाथयात्रार्थ गतः। कस्मिन्नपि पर्वणि पाकविशेषाय चुल्लीनिहितां तापिकामलाबुरन्ध्राद् गलितरसबिन्दुना हिरण्मयी निमाल्य स वणिक् तं सिद्धरसं निर्णीय तदलाबुसहितं गृहसारमन्यत्र स्थापयित्वा स्वगृहं ज्वालयित्वा परस्मिन् गोपुरे गृहं कृत्वां स्थितः। तत्र निवसन् प्राज्याज्यक्रयकारिण्याः स्वयं घृतं तोलयंस्तदक्षीणतादर्शनाद् घृतपात्रस्याधः कृष्णचित्रकुण्डलिकां निश्चित्य केनापि च्छद्मना तां गृहीतवान्। एवं कपटकूटतुलामानव्यवहारादिभिः पापनुबन्धिपुण्यबलेन व्यवसायपरस्य रंकश्रेष्ठिनो मिलितम् बहु द्रव्यम्। एकदा

कश्चित्स्वर्णसिद्धकर्ता मिलितः । सोऽपि कपटवृत्या वञ्चितोगृहीता सुवर्णसिद्धिः । एवं त्रिविधसिद्ध्यानेक कोटिधनेश्वरो जातः । परमन्यायर्जिताविभवपरिशीलनेन पूर्व निर्धनस्य पश्चाद्धनसंपत्त्युत्सेकतया चक्वापि तीर्थे सत्पात्रेऽनुकंपास्थाने वा स्वश्रियो न्यासो दूरे तिष्ठतु प्रत्युत सकलोकोच्चाटननवनवकरवर्द्धनाहड्·कार पोषाऽन्यधनिस्पार्धामत्सरादिभिस्तां रमां कालरात्रिरूपां लोकायादर्शयत् । अथान्यदा स्वसुतारत्नखचितकंकतिकायां राज्ञा स्वपुत्रीकृते मार्गितायां पश्चात्प्रसभमप पहृतायां तद्विरोधात्स्वयं म्लेच्छमण्डले गत्वा कनककोटीर्दत्त्वा मुद्गलान् समानयत् । तैर्देशभंगे कृते रङ्केन राज्ञः सूर्यमण्डलागच्छत्तुरगरक्षकान् रहोदानैर्विभेद्य कूटप्रपञ्चः कारितः। पुरा हि राजा सूर्यवरप्राप्तम् दिव्यतुरगमारोहति तदनु संकेतितपुरुषैः पश्चशब्दवादनं क्रियते । तुरगो व्योम्नि याति । तमारुढो नृपो वैरिणो हन्ति । सङ्ग्रामसमाप्तौ तुरगः सूर्यमण्डलं प्रविशति । तदा च रंकभेदितपञ्चशब्दवादकै राज्ञस्तुगारोहणात्पूर्वमेव पंचशब्दनादः कृतः । तुरगः समुड्डीय गतः। शिलादित्यनृपः किंकर्तव्यतामूढस्तैर्निजघ्ने । तदनु सुखेन वल्लभीभङ्ग सूत्रितः । उक्तश्वः-

"पणसयरीवासाइं, तिन्निसयाइं अइक्कमेऊणं ।विक्कमकालाउ तओ, वलहीभंगो समुप्पन्नो ।।1।।"

मुद्गला अपि निर्जले पातयित्वा मारिताः । इति रंकश्रोष्ठिसम्बन्धः । एवमन्यायवित्तविलसितं ज्ञात्वा न्यायेनार्थार्जने यतनीयं ।

तथाऽन्यायोपलक्षणाद्दवद्रव्यज्ञानद्रव्यपाखण्डिपार्श्वस्थादिधनेन व्यवसायकरणं, व्याजेन ग्रहणाद्यपि महादोषकृत् ।यदाह-

"अन्यायदेवपाखण्डितद्धनानां धनेन यः ।वृद्धिमिच्छति मुग्धोऽसौ, विषमत्ति जिजीविषुः ।।1।।"

लौकिकेऽपि-

"देवद्रव्येण या वृद्धिर्गुरुद्रव्येण यद्धनम्। तद्धनं कुलनाशाय, मृतोऽपि नरकं व्रजेत् ।।1।।
प्रभास्वे मा मतिं कुर्यात्प्राणैः कण्ठगतैरपि। अग्निदग्धाः प्ररोहन्ति, प्रभादग्धो न रोहति ।।2।।
प्रभास्वं ब्रह्महत्या च, दरिद्रस्य च यद्धनम् । गुरुपत्नी देवद्रव्यं, स्वर्गस्थमपि पातयेत् ।।3।।"

"एकदा कुक्करः कश्चिन्निविष्टो राजवर्त्मनि । केनचिद् ब्रह्मपुत्रेण, कर्करेण हतः श्रुतौ ।।1।।
श्वा निर्यल्लोहितो न्यायस्थानं गत्वानिविष्टवान्। भूपेनाहूय पृष्टोऽवग् निरागाः किमहं हतः ? ।।2।।
तद्घातकं ब्रह्मपुत्रं तत्रानाय्य नृपोऽब्रवीत्। असौ त्वद्घातको ब्रूहि, कोऽस्य दण्डो विधीयते।।3।।
श्वाऽवोचदत्र रुद्रस्य, माठापत्ये नियोज्यताम्। क एष दण्डो राज्ञेति, पृष्टः श्वान पुनर्जगौ ।।4।।
प्रागहं सप्तजन्मभ्यः, पूजयित्वा सदाशिवम्। देवस्वभीत्या प्रक्षाल्य, पाणी भोजनमाचरम्।।5।।
स्त्यानाज्यमन्यदा लिङ्गपूरणे लोकढौकितम्। विक्रीणानस्य काठिन्यान्नखान्तः प्रविशन्मम ।।6।।
विलीनमुष्णभुक्तेनाजानता तन्मया हृतम्। तेन दुष्कर्मणा सप्तकृत्वो, जातोऽस्मि मण्डलः ।।7।।
सप्तमेऽस्मिन् भवे राजन् !, जाता जातिस्मृतिर्मम। अधुना त्वप्रभावेणोत्पन्ना वाग् मानुषी मम।।8।।
एवमज्ञानतो भुक्तम् देवस्वं दुःखकारणम्। रक्षणीयमतस्तद्धि विवेकज्ञैः स्वशक्तितः ।।9।।

न विषं विषमित्याहुर्देवस्वं विषमुच्यते। विषमेकाकिनं हन्ति, देवस्वं पुत्रपौत्रकम् ।।10।।

स्मृतौ शुद्धव्यवहारश्चतुर्धा। युदुक्तम्-

"उज्जुववहारो चउहा जहत्थ भणणं ? अवंचिगा किरिणा 2। हुंतावायपगासण 3 मित्तीभावो च सब्भावा 4"

ऋजुरकुटिलः शुद्धो व्यवहाराख्यगुणश्चतुर्धा।

यथा यथार्थभणनमविसंवादिवचनं धर्मक्रयविक्रयसाक्षिव्यवहारादौ। अयं भाव :-

"परवंचणबुद्धीए धम्ममधम्मं च जाणिऊण सया। न भणंति भावसड्ढा, भणंति सच्चं च महुरं च ।।1।।

कयविक्कयसट्टासुवि उणब्भहियं कहंति न हु अग्घं। सक्खित्तेवि निउत्ता, न अन्नहा वाइणो हुन्ति ।।2।।

रायसभाइगयावि हु जणं न दूसंति अलियभणिएहिं। धम्मोवहासजणगं, वयणं वज्जन्ति धम्मरया ।।3।।

कमलश्रेष्ठ्यादिवत्। तथा अवञ्चिका क्रिया परव्यसनाहेतुका मनोवाक्कायव्यापाररूपा चेष्टा। यदुक्तं-

"तप्पडिरूवगविहिणा, तुलापलाईहिं ऊणमब्भहियं। लिंतो दिंतोऽपि परं, न वंचए सुद्धधम्मत्थी ।।1।।"

अवञ्च कोपलक्षणात् स्तेनाहृततत्प्रयोगादेरपि वर्जनं अष्टादशप्रसिद्धिपरित्यागपूर्वकम्। ताश्चेमाः-

चौर 1 श्चोरापको 2 मन्त्री 3 भेदज्ञः 4 काणकक्रयी 5। अन्नदः 6 स्थानद 7 श्चै, चौरः सप्तविधः स्मृतः।।

तत्र काणकक्रयी बहुमूल्यमपि अल्पमूल्येन चौराहृतं काणकंहीनं कृत्वा क्रीणाति।

"भलनं 1 कुशलं 2 तर्जा 3 राजभोगो 4 ऽवलोकनम् 5। अमार्गदर्शनं 6 शय्या 7 पदभंग 8 स्तथैव च ।।

विश्रामः 9 पादपत्तन 10 मासनं 11 गोपनं 12 तथा। खण्डस्य खादनं 13 चैव, तथाऽन्यन्माहराजिकम् 14 पद्या 15 ग्न्यु 16 दक 17 रज्जूनां 18 प्रदानं ज्ञानपूर्वकं। एताः प्रसिद्धयो ज्ञेया अष्टादश मनीषिभिः ।।3।।"

तत्र भलनं न भेतव्यं भक्ता तद्विषयेऽहमैव भविष्यामीत्यादिवाक्यैश्चौर्यविषयं प्रोत्साहनम् १। कुशलं मिलितानां सुखदुःखादितद्वार्त्ताप्रश्नः २। तर्जा हस्तादिना चौर्य प्रति प्रेषणादिसंज्ञाकरणम् ३। राजभोगो राजभोगद्रव्यापह्नवः ४। अवलोकनं हस्तां चौराणामुपेक्षाबुद्ध्या दर्शनम् ५। अमार्गदर्शनं चौरमार्गप्रच्छकानां मार्गान्तरकथनेन तदज्ञापनम् ६। शय्या शयनीयार्पणादि ७। पदभंगः पश्वाच्चतुष्पदप्रचारादिद्वारेण ८। विश्रामः स्वगृह एव वासकाद्यनुज्ञा ९। पादपतनं प्रणामादिगौरवम् १०। आसनं विष्टरदानम् ११। गोपनं चौरापह्नवम् १२। खण्डखादनं खण्डमण्डकादिभक्तदानम् १३। महाराजिकं लोकप्रसिद्धम् १४। पद्याग्न्युदकरज्जूनां प्रदानं इति प्रक्षालनाभ्यंगाभ्याम् दूरमार्गगमनजनितश्रमापनोदित्वेन पादेभ्यो हितम् पद्यमुष्णजलतैलादि तस्य १५। पाकाद्यर्थ चाग्नेः समर्पणम् १६। पानाद्यर्थ शीतोदकस्य १७। चौरापहृतचतुष्पदादिबन्धनार्थ रज्जूनां च प्रदानम् २८। ज्ञानपूर्वकं चेति सर्वत्र योज्यम्। अज्ञानपूर्वकस्यानपराधत्वात्। हुन्तावायपगासण इति अशुद्धव्यवहारकृतो ये भाविनोऽपाया अनर्था राजदण्डनरकपातादयस्तेषां प्रकाशनं प्रकटनम्। भद्र! मा कृथाः पापानि चौर्यादीनि इहामुत्र चानर्थकारिणीति परेभ्यः प्रतिपादनमेवंप्रकारेण। तथाहि-

"अन्नाएण विढत्तं दव्वमसुद्धं असुद्धदव्वेणम्। आहारो वि असुद्धो, तेण असुद्धं सरीरंपि ।।1।।
देहेण असुद्धेणं जं जं किज्जइ कयावि सुहकिच्चम्। तं तं न होइ सहलं, वीयं पिव ऊसरनिहित्तम् ।।2।।"

तथा मित्तीभावो य सब्भावा इति मित्रस्य भावः कर्म वा मैत्री, तस्या भावो भवनं निष्कपटतया, सुमित्रवन्निष्कपटमैत्रीं करोतीत्यर्थः । न तु कपटमैत्रीं दर्शयन् जनं वञ्चयति । एवं हि गोमुखव्याघ्रवृत्या व्यवहरन् सर्वेषामविश्वासस्थानं पापभाक् च भवेदिति ज्ञात्वा चतुर्द्धा ऋजुव्यवहारः स्याद्विवेकी । यतः-

"विहाराहारव्याहारव्यवहारास्तपस्विनाम् । गृहिणां तु व्यवहार एव शुद्धो विलोक्यते ।।1।।"

व्यवहारशुद्ध्यैव च सर्वोऽपि धर्मः सफलः । यद्दिनकृत्यकृत्-

"ववहारसुद्धि धम्मस्स, मूलं सव्वन्नुभासए । ववहारेणं तु सुद्धेणं, अत्थसुद्धी जओ भवे ।।1।।
सुद्धेणं चेव अत्थेणमाहारो होइ सुद्धओ । आहारेणं तु सुद्धेणं, देहसुद्धी जओ भवे ।।2।।
सुद्धेणं चेव देहेणं, धम्मजुग्गो अ जायई । जं जं कुणइ किच्चं तु, तं तं से सफलं भवे ।।3।।
अन्नहा अफलं होइ, जं जं किच्चं तु सो करे । ववहारसुद्धिरहिओ अ, धम्मं खिंसावए जओ ।।4।।
धम्मखिंस कुणंताणं, अप्पणो अ परस्स य । अबोही परमा होइ, इअ सुत्ते विभासिअम् ।।5।।
तम्हा सव्वपयत्तेणं, तं तं कुज्जा विअक्खणो । जेण धम्मस्स खिं सं तु, न करे अबुहो जणो ।।6।।"

लोकेऽप्याहारानुसारेण पिण्डप्रकृतिबन्धो द्रश्सते। यथा तुरङ्गमा बाल्ये महिष्याः पीतपयस्काः पयसि पतन्ति । गवां पीतदुग्धाः पानीयात् दूर एव तिष्ठन्ति । तथा मनुष्योऽपि बाल्याद्यवस्थाभुक्तहारानुसारिप्रकृतिर्जायते । अतो व्यवहारशुद्धयै सम्यगुणक्रम्यम् । इति व्यवहारशुद्धिस्वरूपम् । देशादिविरूद्धपरित्यागो देशकालनृपादिविरूद्धवर्जनम् । युदुक्तं हितोप-

देशमालायाम्-

"देसस्स य कालस्स य, निवस्स लोगस्स तहय धम्मस्स। वज्जंतो पडिकूलं, धम्मं सम्मं च लहइ नरो ।।1।।"

तत्र सौवीरेषु कृषिकर्म, लाटेषु सुरासन्धानं देशविरूद्धम्। अन्यदपि यद्यत्र देशे शिष्टजनैरनाचीर्ण तत् तत्र देशविरूद्धम्। जातिकुलाद्यपेक्षया वानुचितं देशविरूद्धम्, यथा ब्राह्मणस्य सुरापानं तिललवणादिविक्रयश्च। उक्तं हि तत्समये-

"तिलवल्लघुता तेषां, तिलवच्छ्यामता पुनः। तिलवच्च निपीड्यन्ते, ये तिलव्यवसायिनः ।।1।।"

कुलमपेक्ष्य च चौलुक्यानां मद्यपानं देशविरूद्धं। अन्यदेशिकानां पुरस्तद्दशनिन्दाविधानादि वा देशविरूद्धम् १। कालविरूद्धं त्वेवं शीतर्तौ हिमालयपरिसरेऽत्यन्तशीते ग्रीष्मर्त्तावत्यन्तजाड्गले मरुस्थले, वर्षास्वत्यन्तपिच्छलपंकाकुलेष्वपरदक्षिणसमुद्रपर्यन्तभागेषु, तथातिदुर्भिक्षे, मिथो नृपद्वयविरोधे, धाट्यादिना मार्गरोधे दुरूत्तारमहारण्ये, यामिनीमुखादिभयवेलायां वा तादृक्सामर्थ्यसहायादिदृढबलं विना प्रस्थानं प्राणधननाशाद्यर्नथकृत्करोति। यद्वा फाल्गुनमासाद्यनन्तरं तिलपीलनतिलव्यवसायतिलभक्षणादि, वर्षासु वा तन्दुलीयकादिपत्रशाकग्रहणादि, बहुजीवाकुलभूमौ शकटखेटनादि वा महादोषहेतुं करोति, तच्च कालविरूद्धं २, राजादेर्दोषग्रहणं, राज्ञः संमतानामसंमानन्म, राज्ञोऽसंमतानां संगतिर्वैरिस्थानेषु लोभाद्गतिवैरिस्थानागतैः सह व्यवहारादि, राज्ञः प्रसादे स्वच्छन्देन राजकृत्येष्वपि विधिनिषेधकरणम्, नागराणां प्रतिकूलाचरणं, स्वामिद्रोहादि च राजविरूद्धम्। दुरसहोदर्कं भूवनभानुकेवलिजीवरोहिण्यादेरिव। सा हि नैष्ठिक्याधीतस्वाध्यायलक्षापि विकथारसान्मुधा राज्ञया दुःशीलतादिवादिनी रुष्टनृपेण मान्योत्तमश्रेष्ठिपुत्रीत्वादिना जिह्वाच्छेदादिभिः खण्डशोऽकृता देशनिर्वासनादिदुःखिनी-

नानाभवेषु जिह्वाच्छेदादि सेहे ३। लोकस्य निन्दा, विशिष्य च गुणसमृद्धस्य । इयमात्मोकर्षश्च लोकविरुद्धौ । यतः-

"संतेहिं असंतेहिं अ, परस्स किं जंपिएहिं दोसेहिं। अथ्थो जसो न लब्भइ, सोविअमित्तो कओ होइ ।।1।।
सव्वि उज्जममाणं, पंचव करिंति रित्तयं समणम्। अप्पथुई परनिंदा, जिब्भोवत्थी कसाया य ।।2।।
जइ संति गुणानणु, अभणिआवि कहिंति अत्तउक्करिसम्। अह तेवि न सन्ति मुहा, अनुक्करिसेण किं तेण।।
मित्ता हसन्ति निन्दन्ति, बंधवागुरुजणा उविक्खंति। पिअरोपि न बहु मन्नन्ति, अप्पबहुमाणिणं पुरिसम् ।।4।।
परपरिभवपरिवाद्‌दात्मोत्कर्षाच्च बध्यते कर्म। नीचैगोत्रं प्रतिभवमनेकभवकोटिदुर्मोचम् ।।5।।
परनिन्दा महापापं, परपापान्यहो यतः। अकर्तृत्वेऽपि लुम्पन्ति, तत्कर्त्री जरतीं यथा ।।6।।

सुग्रामे सुन्दरश्रेष्ठी, धर्मी यात्रिकादीनां भोजनवासस्थानाद्युपकारी, तत्प्रातिवेश्मिकी जसद्विप्री तं निन्दति, यात्रिका विदेशे म्रियन्ते, तन्न्यासादिलोभात्तानेष सत्यापयतीत्यादि। अन्यदा क्षुत्तृषार्त्तः कार्पटिको गृहेऽभावादाभीर्याः तक्रमानाय्य पायितो मृतः, आभीरीशिरःस्थतक्रभाण्डे शकुनिकाधृताहिमुखपतितगरलेन। विप्री हृष्टोचे, 'अहो! धर्मित्वं' तदा खे स्थिता हत्या दध्यौ, "दाता शुद्धः सर्पोऽज्ञः परवशश्च, शकुनिका सर्पाशना, आभीर्यज्ञा, तत्कस्य लगामि?" इति ध्यात्वा विप्रीं विवेश। तया सा श्यामा कुब्जा कुष्ठिनी जज्ञे। इत्यसद्दोषोक्तौ लौकिकज्ञातम्। सद्दोषोक्तौ राज्ञोऽग्रे वैदेशिकानीतत्रिकपालीपरीक्षा पण्डितकृता। यथा-एकस्य कर्णे क्षिप्तं-सूत्रं निर्गतम्, तस्य श्रुतप्रलापिनो मूल्यं काणकपर्दिका। अन्यस्यान्यकर्णे निर्गतम् तस्य श्रुतविस्मृतस्य लक्षम्। तृतीयस्य गले गतं तस्य हृदि श्रुतस्थितेर्न मूल्यम्। तथा ऋजूनामुपहासो गुणवत्सु मत्सरः,

कृतघ्नत्वं बहुजनविरूद्धैः सह संगतिः, जनमान्यानामवज्ञा, सदाचाराणां व्यसनोपनिपाते तोषः, शक्तौ तद्प्रतीकारो, देशाद्युचिताचारलङ्घनं वित्ताद्यनुसारेणात्युद्भटातिमलिनवेषादिकरणं, एवमादिलोकविरूद्धमिहाप्यपकीर्त्यादिकृत्।

यदुवाच वाचकमुख्य :-

"लोकः खल्वाधारः सर्वेषां धर्मचारिणां यस्मात्। तस्माल्लोकविरूद्धं धर्मविरूद्धं च संत्याज्यम् ।।1।।"

तत्त्यागे च जनानुरागस्वधर्मसुखनिर्वाहादयो गुणाः। आह च-

"एआइं परिहन्तो सव्वस्स जणस्स वल्लहो होइ। जणवल्लत्तणं, पुण नरस्स समत्ततरूबीअं ति।।4।।

तथा मिथ्यात्वकृत्यं, निर्दयं गवादेस्ताडनबन्धनादि, निराधारं यूकादेरातपे च मत्कुणादेः क्षेपः। शीर्षे महाकङ्कक्षेपः लिक्षास्फोटनादि, उष्णकाले त्रिः शेषकाले च द्विदृढवृहद्गलनकसंखार कसत्यापनादियुकत्या जलगालने धान्येन्धनशाकताम्बूलफलादिशोधनादौ च सम्यक्प्रवृत्तिः। अक्षतपूगखारिकवाल्हउलिफलिकादेर्मुखे क्षेपः। नालकेन धारया वा जलादेः पानम्। चलनोपवेशनशयनस्नानवस्तुमोचनग्रहणरन्धनखण्डनपेषण घर्षणमलमूत्रश्लेष्मगण्डूषादिजलतांबूलत्यागादौ सम्यगयतना, धर्मकर्मण्यनादरो, देवगुरूसाधर्मिकेषु विद्वेषः, चैत्यादिद्रव्यपरिभोगो, निर्धर्मसंसर्गो, धार्मिकादीनामुपहासः। कषायबहुलता, बहुदोषक्रयविक्रयः, खरकर्मसु पापमयाधिकारादौ च प्रवृत्तिः, एवमादि धर्मविरूद्धं। इह मिथ्यात्वादीनि प्रायोऽर्थदीपिकायां विवृतानि। देशकालादिविरूद्धनामपि धर्मवतां आचरणे धर्मनिन्दोपपत्तेर्धर्मविरूद्धतैव ९।।४।। तदेवं पश्चविधं विरूदं श्राद्धेन परिहार्यमिति देशादिरूद्धत्यागः। तथोचितस्योचितकृत्यस्याचरणं करणं उचिताचरणं। तच्च पित्रादिविषयं नवविध-

मिहापि स्नेहवृद्धिकीर्त्यादिहेतुर्हितोपदेशमालागतगाथाभिः प्रदर्श्यते ।

" सामन्ने मणुअत्ते, जं केई पाउणंति इह कित्तिम् । तं मुणह निव्विअप्पं, उचिआचरणस्स महप्पम् ।।1।।
तं पुण पिइमाइसहोअरेसु पणइणिअवच्चसयणेसु । गुरुजणनायरपरतित्थिएसु पुरिसेण कायव्वम् ।।2।।"

तत्र पि तृविषयं कायवाग्मनांसि प्रतीत्य त्रिविधमौचित्यं क्रमेणाह-

"पिउणो तणुसुस्सूसं, विणएणं किंकरव्व कुणइ सयं । वयणंपिसेपडिच्छइ, वयणाओ अपडिअं चेव ।।3।।"

तनुशुश्रूषां चरणक्षालनसंवाहनोत्थापननिवेशनादिरूपां देशकालसात्भ्यौचित्येन भोजनशयनीयवसनागरागादि-संपादनरूपां च विनयेन न तु परोपरोधावज्ञादिभिः स्वयं करोति, न तु भृत्यादिभ्यः कारयति । यतः-

" गुरोः पुरो निषण्णस्य, या शोभा जायते सुते । उच्चै सिंहासनस्थस्य, शतांशेनापि सा कुतः ? ।।1।।"

'अपडिअंति वदनादपतितमुच्चार्यमाणमेवादेशः प्रमाणमेष करोमीति' सादरं प्रतीच्छति पितृवचनप्रमाणीकरणार्थं । राज्याभिषेकसमये एव वनवासार्थोपस्थितश्रीरामवत् न पुनरनाकर्णितशिरोधूननकालक्षेपार्द्धविधानादिभिरवजानाति ।

"चित्तं पिहु अणुअत्तइ, सव्वपयत्तेण सव्वकज्जेसु । उवजीवइ बुद्धिगुणे, निअसब्भावं पयासेइ ।।4।।"

स्वबुद्धिविचारितमवश्यविधेयमपि कार्यं तदेवारभते । यत्पितुर्मनोऽनुकूलमिति भावः । बुद्धिगुणान् शुश्रूषादीन् सकललौकिकलोकोत्तरव्यवहारगोचरांश्चोपजीवत्यभ्यस्यति । बहुदृश्वानो हि पितृप्रभृतयः सम्यगाराधिताः प्रकाशयन्त्येव कार्यरहस्यानि । तदाह-

''तत्तदुत्प्रेक्षमाणानां, पुराणैरागमैर्विना। अनुपासितवृद्धानां, प्रज्ञा नातिप्रसीदति ।।1।।
यदेकः स्थविरो वेत्ति, न तत्तरूणकोटयः। यो नृपं लत्तया हन्ति वृद्धवाक्यात्स पूज्यते ।।2।।
श्रव्यं वाक्यं हि वृद्धानां, प्रष्टव्या ये बहुश्रुताः। हंसयूथं वने बद्धं, वृद्धबुद्ध्या विमोचितम् ।।3।।
सद्भावं चित्ताभिप्रायं-
आपुच्छिउं पयट्टइ करणिज्जेसु निसेहिओ ठाइ। खलिए खरंपि भणिओ, विणीअयं न हु विलंघेइ ।।4।।
सविसेसं परिपूरइ, धम्माणुगए मणोरहे तस्स। एमाइ उचिअकरणं, पिउणो जणणीइवि तहेव ।।5।।

तस्य पितुरितरामपि मनोरथान् पूरयति, श्रेणिकचिल्लणादेरभयकुमारवत्। धर्मानुगतांस्तु देवपूजासद्गुरुपर्युपास्ति धर्म श्रवणविरतिप्रतिपत्त्यावश्यकप्रवृत्तिसप्तक्षेत्रीवित्तव्ययतीर्थयात्रादीनानाथोद्धरणादीन् मनोरथान् सविशेषं बह्वादरेणेत्यर्थः। कर्तव्यमेव चैतत्सदपत्यानामिह लोकगुरुषु पितृषु। नचार्हद्धर्मसंयोजनमन्तरेणात्यन्तदुष्प्रतिकारेषु तेष्वन्योऽस्त्युपकृतिप्रकारः। तथा च स्थानांगसूत्रम्-''तिण्हं दुप्पडिआरं समणाउसो, तं जहा-अम्मापिउणो, भट्टिस्स धम्मायरियस्स। संपाओविअणं केइ पुरिसे अम्मापिअरं सयपागसहस्सपागेहिं तिल्लेहिं अब्भंगित्ता सुरभिणा गंधट्टएणं उवट्टित्ता तिहिं उदगेहिं मज्जावित्ता सव्वालंकारविभूसिअं करित्ता मणुन्नथालीपागसुद्धं अट्ठारसवंजणाउलं भोअणं भोआवित्ता जावज्जीवं पिट्ठवडंसिआए परिवहिज्जा। तेणावि तस्स अम्मापिउस्स दुप्पडिआरं भवइ। अहेणं सेतं अम्मापिअरं केवलिपन्नत्ते धम्मे आघवइत्ता पन्नवइत्ता परूवइत्ता ठावइत्ता भवइ। तेणामेव तस्स अम्मापिउस्स सुप्पडिआरं भवइ समणाउसो 9। केइ महच्चे दरिद्द समुक्कसिज्जा, तएणं से

दरिद्द समुक्कित्र समाणे पच्छापुरं चणं विउलभोगसमिइ समणागए आवि विहरिज्जा, तएणं से महच्चे अन्नया कयाइ दरिद्दो हूए समाणे तस्सदरिद्दस्स अंतियं हव्वमगच्छिज्जा, तएणं से दरिद्द तस्स भट्टिस्स सव्वस्समविदलमाणे तेणावि तस्स दुप्पडिआरं भवइ। अहेणं से तं भट्टि केवलिपन्नत्ते धम्मे आघवइत्ता जाव ठावइत्ता भवइ, तेणामेव तस्स भट्टिस्स सुप्पडियारं भवइ २। केइ तहारुवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतिए एगमविआरियं धम्मियं सुवयणं सुच्चा निसम्म कालं मासे कालं किच्चा अन्नयरेसु देवलोगेसु देवत्ताए उववन्ने। तएणं से देवे तं धम्मायरियं दुभिक्खाओ वा देसाओ सुभिक्खं देसं साहरिज्जा कंताराओ निक्कंतारं करिज्जा दीहकालिएणं वा रोगायंकेण अभिभूअं विमोइज्जा। तेणावि तस्स धम्मायरियस्य दुप्पडिआरं भवइ। अहेणं से तं धम्मायरिअं केवालपन्नत्ताओ धम्माओ मट्ठ समाणं भुज्जो केवलिपन्नत्ते धम्मे आघवइत्ता जाव ठावइत्ता भवइ तेणामेव तस्स धम्मायरिअस्स सुप्पडियारं भवइ ३। इह विषमपदव्याख्या-'संपाओविअ त्ति' प्रातः प्रभांत तेन समं संप्रातःयदैव प्रातः संवृत्तं तदैवेत्यर्थः अनेन कार्यान्तराव्यग्रतां दर्शयति। 'गंधट्टएण त्ति'-गंधाट्टकेन गन्धद्रव्यक्षोदेन। 'तिहिंति' गंधोदकोष्णोदकशीतोदकैः। 'थालीपाग' त्ति' स्थाली पिठरी तस्यां पक्वं सुपक्वं स्यात्। सुद्ध त्ति शुद्धं भक्तदोषमुक्तं। 'पिट्ठवडंसिआए त्ति' पृष्ठावतंसिकया पृष्ठारोपितमित्यर्थः। अत्र निजान्धपित्रोः कावड्या पृष्ठवाही तीर्थयात्रार्थोपस्थितः श्रवणो ज्ञातम्। 'अहे त्ति' अथ णं वाक्यालंकारे। आघवइत्त त्ति आख्याय। पन्नवइत्ता प्रज्ञाप्य बोधयित्वेत्यर्थः। परूवइत्ता प्ररूप्य भेदतः। अत्र पितृदीक्षादातृश्रीआर्यरक्षितसूरिर्ज्ञातम्। केवलोत्पादेऽपि पित्रोः प्रबोधावधि निरवद्यवृत्त्या गृहे स्थितः कूर्मापुत्रो वा ॥१॥ 'महच्चेति' माहत्यं महत्त्वं तद्योगान्माहत्य ईश्वर इत्यर्थः। 'समुक्कसिज्ज त्ति' धनदानादिना समुत्कर्षयेदुत्कृष्टं

कुर्यात्। 'पुरंति' पूर्वकाले समुत्कर्षणकाले इत्यर्थः। 'समिइ त्ति' भोगसमूदयसमन्वायुक्तः। 'दलमाणे त्ति' ददानः। इह मिथ्यात्विमहेभ्यस्य वणिकपुत्रत्वेन महेभ्यीभूतः क्रमात्तं श्रेष्ठिनं दुर्देवाद् निर्धनं महेभ्यीकृत्य श्राद्धधर्मं प्रतिपादयिता जिनदासश्राद्धो ज्ञातम् २। 'निसम्भ त्ति' निशभ्य मनसावधार्य। इह निद्रादिप्रमत्तसेलकाचार्यबोधकः पंथकशिष्यो ज्ञातम् ३।

मातृविषयौचित्यविशेषमाह-

"नवरं से सविसेसं, पयडइ भवाणुवित्तिमप्पडिमं। इत्थीसहासुलहं, पराभवं वहइ नहु जेण ।।1।।"

'सविसेसंति' जनकान्मातुः पूज्यत्वादपि। यन्मनुः-

"उपाध्याया दशाचार्या, आचार्याणां शतं पिता। सहस्त्रं तु पितृर्माता गौरवेणातिरिच्यते ।।1।।"

अन्यैरप्युक्तम्-

"आस्तन्यपानाज्जननी पशूनामादारलंभावधि चाधमानाम्।
आगेहकृत्यावधि मध्यमानामाजीवित्तातीर्थमिवोत्तमानाम् ।।1।।
माता पशूनां सुतसत्तयैव, धनार्जनैस्तुष्यति मध्यमानाम्।
वीरावदातैः पुनरुत्तमानाम्, लोकोत्तमानां चरितैः पवित्रैः ।।2।।

उचिअं एअं तु सहोअरंमि जं निअइ अप्पसममेअम्। जिट्ठ व कणिट्ठ पिहु बहुमन्नइ सव्वकज्जेसु ।।3।।"

निअइ त्ति पश्यति। जिट्ठव त्ति ज्येष्ठो भ्राता पितृतुल्यस्तमिव कनिष्ठेन तु वैमातृकेणापि ज्येष्ठः श्रीरामौ लक्ष्मणेनेषानु-

सरणीयः । एवं ज्येष्ठकनिष्ठपत्नीपुत्राद्यैरपि चिन्त्यम् ।

''दंसइ न पुढोभावं, सब्भावं कहइ पुच्छइ अ तस्स । ववहारंमि पयट्टइ, न निगूहइ थेवमविदविणम् ।।1।।''

'पयट्टइ'त्ति-प्रवर्तयत्ति, येनासौ व्यवहारनिष्णातो, न धूर्तादिवञ्चनागोचरी स्यात् । 'निगूहइ त्ति' द्रोहबुद्ध्या नापह्नुते क्वचित्संकटे निर्वाहार्य धनं निधीकरोति एव । कुसंसर्गादिना बन्धाववितीते किं कृत्यमित्याह-

''अविणीअं अणुवत्तइ, मित्तेहिं तो रहो उवालभइ । सयणजणाओ सिक्खं, दावइ अन्नावए सेण ।।10।।''

'सयण त्ति' पितृव्यमातुलश्वशुरतत्पुत्रादिभ्यो दुर्विनीतस्याऽन्यस्य व्यपदेशेन स्वयं तु तं न तर्जयति । तथा विहिते हि निर्लज्जतया स कदाचिदुन्मर्यादोऽपि स्यात् ।

''हिअए ससिणेहो विहु, पयडइ कुविअं च तस्स अप्पाणं । पडिवन्नविणयमग्गं, आलवइ अछम्मपिम्मपरो ।।1''

'अछम्म त्ति' निश्छद्मप्रेमवान् । एवमप्यगृहीतविनयं तु प्रकृतिरियमस्येति ज्ञाततत्त्वः सन्नुदास्त एव ।

'' तप्पणइपुत्ताइसु, समदिट्ठो होइ दाणसम्माणे । 'सावक्कंमि उइत्तो, सविसेसं कुणइ सव्वंपि ।।12।।''

'समदिट्ठो त्ति' स्वपत्न्यपत्यादिष्विव समदृष्टिः । 'सावक्कंमि त्ति' सापत्नेऽपरमातृके भ्रातरि, तत्र हि स्तोकेऽप्यन्तरे व्यक्तीकृते तस्स वैचित्त्यं जनापवादश्च स्यात् । एवं पितृमातृभ्रातृतुल्येष्वपि यथार्हमौचित्यं चिन्त्यम् । यतः-

''जनकश्चोपकर्ता च यस्तु विद्यां प्रयच्छति । अन्नदः प्राणदश्चैव, पञ्चैते पितरः स्मृताः ।।1।।''

राज्ञः पत्नी गुरोः पत्नी, पत्नी माता तथैव च । स्वमाता चोपमाता च, पिञ्चैता मातरः स्मृताः ।।2।।

सहोदरः सहाध्यायी, मित्रं वा रोगपालकः । मार्गे वाक्यसखा यस्तु, पञ्चैते भ्रातरः स्मृताः ।।3।।"

भ्रातृणां मिथः प्रीतौ श्रीऋषभपुत्रा भरतदूतागमे श्रीऋषभं प्रष्टुं सहप्राप्ता अष्टानवतिर्ज्ञातम्। भ्रातृवन्मित्रेऽप्येवमनुसर्त्तव्यम्।

"इयभाइगयं उचिअं, पणइणिविसयंपि किंपि जंपेमो। सप्पणयवयणसम्माणणेणं तं अभिमुहं कुणइ 13"

प्रियप्रणयवचनं हि संजीवनं समग्रापरापरप्रेमप्रकाराणां, प्रस्तावे च प्रयुक्तं दानादिभ्योऽपि गुरुतरं गौरवमारोपयति। यतः पठ्यते-

"न सद्वाक्यात्परं वश्यं, न कलायाः परम् धनम्। न हिंसायाः परोऽधर्मो, न सन्तोषात्परं सुखम्।।1।।

सुस्सुसाइ पयट्ठइ, वत्थाभरणाइसमुचिअं देइ। नाडयपिच्छणयाइसु, जणसंमद्दसु वारइ ।।14।।"

शुश्रुषायां स्वस्य स्नानदेहसंवाहनादिरूपायां तां प्रवर्तयति। तथाकृते विश्रब्धा सती निष्कृत्रिमप्रेमवती न जातु विप्रियमाचरति। 'देह त्ति' देशकालकुटुम्बविभवाद्यौचित्येन अलङ्कृता हि गृहिण्यो गृहमेधिनां श्रियमेधयन्ति। यतः-

"श्री मंगलात्प्रभवति, प्रागल्भ्याच्च प्रवर्द्धते। दाक्ष्यात्तु कुरुते मूलम्, संयमात् प्रतितिष्ठति ।।1।।"

मूलमित्यनुबन्धं प्रति तिष्ठति इति प्रतिष्ठां लभते। "संमद्दषु। तत्र ह्यशिष्टजनचेष्टिताश्लीलालापचापलप्रवृत्तिविलोकनान्निसर्गनिर्मलमपि जलदवाताहतं मुकुरतलमिव मनः प्रायो विकरोति।

"रंभइ रयणिपयारं, कुसीलपाखंडिसंगमवणेइ। गिहकज्जेसु निओअइ, न विओअइ अप्पणासिद्धिम् ।।15।।"

रजन्या प्रचारं राजमार्गवेशमगमनादिकं निरूणद्धि। मुनीनामिव कुलवनितानामपि महते दोषाय दोषाप्रचारः। धर्मावश्य-

कादिप्रवृत्तिनिमित्तं च जननीभगिन्यादिसुशीलललना वृन्दमध्यगतामनुमन्यत एव । गृहकृत्यानि दानस्वजनसंमानरसवती-प्रयोगादीनि । यतः-

"शय्योत्पाटनगेहमार्जनपयःपावित्र्यचुल्लीक्रिया, स्थालीक्षालनधान्यपेषणभिदा गोदोहतन्मन्थने ।
पाकस्तत्परिवेषणं समुचितं पात्रादिशौचक्रिया, श्वश्रूभर्तृननन्दृदेवृविनयाः कृत्यानि वध्वा इति ।।1।।"

तेषु नियमादेनां प्रयुंक्ते । अनियुक्ता ह्यसौ सर्वथोदास्ते । उदासीनायां च गृहिण्यां सीदन्त्येव गृहकृत्यानि । निर्व्यापारा च सती चापल्याद्विक्रियां भजते । व्यापारव्यग्रत्वादिना हि स्त्रीणां गोपायनम् । यदुमास्वातिः प्रशमरतौ-

"पैशाचिकमाख्यानं, श्रुत्वा गोपायनं च कुलवध्वाः । संयमयोगैरात्मा, निरन्तरं व्यापृतः कार्यः ।।1।।"

'न विओअइ त्ति' यतो दर्शनसाराणि प्रायः प्रेमाणि । यथोक्तं-

"अवलोअणेण आलावएण गुणकित्तणेण दाणेण । छंदेणवट्टमाणस्स, निब्भरं जायए पिम्मं ।।1।।
अद्दसणेण अइदंसणेण, दिट्ठ अणालवंतेण । माणेणऽपमाणेण य, पंचविहं डिज्झए पिम्मं ।।2।।"

अत्यन्तप्रवासवैमनस्ये च सा कदाचिदनुचितमप्याचरेत् ।

"अवमाणं न पयंसइ, खलिए सिक्खेइ कुविअमणुणेइ । धणहाणिवुड्ढिघरमंतवइअरं पयडइ न तीसे ।।16।।"

अपमानं निर्हेतुकमेव क्रोधादिना सपत्नीसंयोजनादिकं नास्यै प्रदर्शयति । को हि मूढधीः पत्नीक्रोधादिमात्रेण स्त्रीद्वय संकटे पतति । यतः-

"बृभुक्षितोक गृहाद्याति, नाप्नोत्यम्बुच्छटामपि । अक्षालितपदः शेते, भार्याद्वयवशो नरः ।।1।।
वरं कारागृहे क्षिप्तो, वरं देशान्तरभ्रमी । वरं नरकसञ्चारी, न द्विभार्यः पुनः पुनान् ।।2।।"

जातु पुष्टालम्बनेन पत्नीद्वयमपि स्यात्तदा तयोस्तत्सुतादिष्वपि सर्वत्र समदृष्टित्वाद्येव कार्य न तु वारकविलोपादि । स्त्रियाः सपत्नीवारकं विलुप्य स्वपतिं मुञ्जानायास्तुर्यव्रतद्वितीयातिचारस्योक्तत्वात् । स्खलिते किञ्चिदपराधे निभृतं तथा शिक्षयति यथा न पुनस्तत्र प्रवर्तते । कुपितां चानुनयत्यन्यथा सहसाकारितया कूपपाताद्यमप्यनर्थ कुर्यात् । सोमभट्टभार्यावत् । अत एव स्त्रीपु सर्वकार्येषु सामवृत्तिरेव कार्या, न तु क्वापि काठिन्यं । पाञ्चालः स्त्रीषु मार्दवमित्युक्तत्वादपि । मार्दवसाध्या हि स्त्रियस्तथैव ताभ्यः सर्वत्र सर्वकार्यसिद्धिदर्शनादन्यथा तु तद्वैपरीत्यस्याप्यनुभवात् । निर्गुणस्त्रीयोगे च विशिष्यैवं यतनीयमाजन्मनिविड-निगडहडिकल्पयापि तयैव हि यथा-कथञ्चिद् गृहसूत्रं स्थाप्यम् । सर्वोऽपि निर्वाहश्व कर्तव्यो, गृहं हि गृहिणीं विदुरित्युक्तेः । 'पयडइ त्ति' प्रकटिते हि धनहानिव्यतिकरे तुच्छतया सर्वत्र तद्वृतं व्यञ्जयन्ती चिरार्जितं महत्त्वं निर्गमयति । धनवृद्धिव्यतिकरे च व्यक्तीकृते निरर्गलं व्यये प्रवर्तते । गृहमन्त्रप्रचारे चाविष्कृते प्रकृतिकोमलहृदयतया मन्त्रोष्माणं धारयितुमसमर्थतया स्वविश्रम्भस्थानेषु प्रकाश्यायतिचिन्तितानि कार्याणि विफलयति । कदाचिद्राजद्विष्टमपि संघटयति । तत एव गृहे स्त्रियाः प्राधान्यं न कार्यम् । "स्त्रीपुंवच्च प्रभवति यदा तद्धि गेहं विनष्टं" इत्याद्युक्तेरपि, यथा क्वापि पुरे मन्थरो नाम कोलिको वेमादिकाष्ठार्थे शिशिपामहावृक्षं तदधिष्ठातृव्यन्तरेण निषिद्धोऽपि साहसी तं छिन्दंस्तेनोक्तो 'वरं वृणु' स स्त्रीवशः स्त्रीं प्रष्टुं गृहं गच्छन् । 'राज्यं याचस्वेति' मित्रनापितेनोक्तोऽपि पत्नीं पप्रच्छ । तया तुच्छया-

"प्रवर्द्धमानः पुरुषस्त्रयाणामुपघातकृत् । पूर्वोपार्जितमित्राणां, दाराणामथ वेश्मनाम् ।।1।।"

इत्युक्तिं विमृश्योक्तं, किं राज्येन क्लेशप्राज्येन ? द्वितीयं बाहुयुगं शिरश्च मार्गय यथा युगपत् पटद्वयवानं स्यात्। सोऽपि तथा व्यन्तरप्रार्थनया तादृग्रूपो ग्राममागच्छन् लोकै राक्षसभ्रान्त्या काष्ठदृषद्भिर्निजघ्ने। तथाह-

"यस्त नास्ति स्वयं प्रज्ञा, मित्रोक्तं न करोति यः। स्त्रीवश्यः स क्षयं याति, यथा मन्थरकोलिकः ।।1।।"

इदं च प्रायिकं तेनोत्तमसुबुद्धिस्त्रियाः प्रश्ने विशेषगुणाद्येव। यथाऽनुपमदेव्या वस्तुपालतेजःपालयोः।

"सुकुलुग्गयाहिं परिणयवयाहिं निछम्मधम्मनिरयाहिं। सयणरमणीहिं पीइं, पाउणइ समाणधम्माहिं ।।17।।"

'सुकुल त्ति' अकुलीनसंसर्गो हि कुलवनितानां मूलबीजमपवादपस्य। 'पाउणइ त्ति' प्रापयति।

"रोगाइसु नोविक्खइ, सुसहाओ होइ धम्मकज्जेसु। एमाइ पणइणिगयं, उचिअं पाएण पुरिसस्स ।।18।।"

धर्मकार्येषु तपश्चरणोद्यापनदानदेवपूजातीर्थयात्रादिषूत्साहवर्द्धनधनार्पणादिना सुसहायी स्यान्नत्वन्तरायकृत्। तत्पुण्येषु तस्याप्यंशहरत्वात्पुण्यकृत्यकारणस्यैव च परमोपकारत्वात्।

"पुत्तं पइ पुण उचिअं, पिउणो लालेइ बालभावंमि। उम्मिलीअबुद्धिगुणं, कलासु कुसलं कुणइ कमसो।।19।।"

'लालेइ त्ति' वृष्याहारस्वेच्छाविहारविविधक्रीडनकादिभिः तदा सङ्कोचितो ह्यसौ न कदाचिदंगोपचयमाकलयेत् पठन्ति च-

"लालयेत्पञ्च वर्षाणि, दश वर्षाणि ताडयेत्। प्राप्ते षोडशमे वर्षे, पुत्रं मित्रमिवाचरेत् ।।1।।

गुरुदेवधम्मसुहिसयणपरिचयं कारवेइ निच्चंपि। उत्तमलोएहिं समं, मित्तीभावं रयावेइ ।।20।।"

गुर्वादिपरिचये ह्याबाल्यात्सद्वासनावासित एव स्याद् वल्कलचीरिवत्। कुलजातिवृत्ताद्युत्तममैत्री जातु देवान्नार्थं संपादयेत्त-थाप्यनर्थपरिहाराय जायत एवाभयकुमारमैत्री त्वार्द्रकुमारस्यानार्यदेशोत्पन्नस्यापि तद्भवसिद्ध्यै जज्ञे।

"गिण्हावेइ अ पाणिं, समाणकुलजम्मरुवकन्नाणम्। गिहभारम्भि निजुंजइ, पहुत्तणं विअरइ कमेण ।।21।।"

'समाण त्ति' अननुगुणयोगे हि दम्पत्योर्विडम्बनैव गृहवासः। मिथो विरक्तत्वे चानुचितप्रवृत्त्याद्यापि स्यात्। श्रूयते हि धारायां भोजराज्ये एकत्र गृहे पुमानत्यन्तं कुरुपो निगुणश्च स्त्री चात्यन्तं सुरूपा सगुणा च। गृहान्तरे तु तद्वैपरीत्यं। अन्यदा चौरेण तद्गेहयोः खात्रप्रदाने उक्तयादिनाननुगुणौ दंपती दृष्टावा सुप्तस्त्रीद्वयपरावर्तश्चक्रे। ययोः सुयोगो जज्ञे, तौ प्रागत्युद्विग्नौ तदा हृष्टौ मिलितौ। अन्येन तु नृपसभे तद्विवादे पटहोद्घोषे चौरेणोक्तम्-

"मया निशि नरेन्द्रेण, परद्रव्यापहारिणा। लुप्तो विधिकृतो मार्गो, रत्नं रत्नेन योजितम् ।।1।।"

हसितेन राज्ञा तथैव प्रमाणीचक्रे। विवाहभेदाद्यग्रे वक्ष्यते। 'गिह त्ति०' गृहभारनियुक्तश्च सुतो निरन्तरतच्चिन्ताक्रान्त-तया स्वाच्छन्द्योन्मादादेरपदमेव स्यात्। बहुक्लेशायासलभ्यानि च धनानि जानन्नानुचिते व्यये धियं धत्ते। 'पहुत्तणं त्ति०' गृहे प्रभुत्वं च दत्ते। प्रतिष्ठा हि गुरुदत्तैव स्यात्। गृहभारारोपणादि च लघावपि पुत्रे सुपरीक्ष्य योग्ये एव कार्यम्। तथैव निर्वाहशोभादिसम्भवात्। यथा प्रसेनजिन्नृपेण तत्तत्परीक्षापूर्वं शततमे पुत्रे श्रेणिके राज्यं न्यस्तम्। पुत्रवत् पुत्रीभ्रातृव्यादिष्वपि यथार्हमौचित्यम् ज्ञेयम्। एवं स्नुषाया अपि। यथा धनश्रेष्ठिना पंच पंच शालिकणार्पणेन परीक्ष्य तुर्या वधू रोहिणी गृहस्वा-

मिनी चक्रे । वृद्धास्तूज्झिता-भोगवती-रक्षिता-श्चछगणाद्युज्झनरन्धनकोशचिन्तासु नियुक्ता यथा क्रमम् ।

"पच्चक्खं न पसंसइ, वसणोवहयाण कहइ दुरवत्थम् ।आयं वयमवसेसम्, च सोहए सयमिमेहिं ता ।।22।।"

"प्रत्यक्षे गुरवः स्तुत्याः परोक्षे मित्रबान्धबाः। कर्मान्ते दासभृत्याश्च, पुत्रा नैव मृताः स्त्रियाः ।।2।।"

इति वचनात् पुत्रप्रशंसामयुक्तामप्यन्यथा निर्वाहादर्शनादिहेतुना चेत्कुर्यात्तदापि न प्रत्यक्षम् गुणवृद्ध्यभावाभिमानादि दोषापत्तः। द्युतादिव्यसनिनां निर्धनत्वन्यत्कारतर्जनताडनादिदुरवस्थाश्रवणे तेऽपि नैव व्यसने प्रवर्तन्ते। आयं व्ययं व्ययादुत्कलितं शेषं च पुत्रेभ्यः स्वयं शोधयति। एवं स्वस्य प्रभुत्वं पुत्राणां च स्वच्छन्दत्वमपास्तम् भवति।

"दसेइ नरिंदसभं, देसंतरभावपयडणं कुणइ ।इच्चाइ अवच्चगयं, उचिअं पिउणो मुणेयव्वम् ।।23।।"

अपरिचितराजसभो हि दैवादतकिंतापतिते व्यसने कांदिशीक एव स्यात्तथाविधश्च निष्कारणद्वेषिभिः परसम्पदसहिष्णुभिः खलजनैरुपहन्यते। तत्पठन्ति।

"गन्तव्यं राजकुले, द्रष्टव्या राजपूजिता लोकाः। यद्यपि न भवन्त्यर्थास्तथाप्यनर्था विलीयन्ते ।।1।।"

देशान्तराचारव्यवहारानभिज्ञो हि प्रयोजनवशाद्दशान्तरगतस्तत्रत्यैवेदेशिक इति सुखं व्यसनादौ पात्यते। एवं पुत्रवत्पुत्र्यादेः पितृवच्च मात्रादेः, पुत्रस्नुषादेर्यथा सम्ममौचिंत्यम् सत्याप्यं । विशिष्य च सापत्नस्य । स हि प्रायो न्यूनमानी विमातृदत्तमासपेयावान्तिकृत्पुत्रवत् ।

"संयणाण समुचिअमिणं, जं ते निअगेहवुड्ढि कज्जेसु। सम्माणिज्ज सयावि हु, करिज्ज हाणीसु वि समीवे ।।24।।

पितृमातृपत्नीपक्षोद्भवाः पुंसां स्वजनाः। वृद्धिकार्याणि पुत्रजन्मादीनि।

"सयमवि तेसिं वसणूसवेसु होअव्वमंतिअंमि सया। खीणविहवाणरोगाउराण कायव्वमुद्धरणम् ।।25।।"

'वसणि त्ति'

"आतुरे व्यसने प्राप्ते, दुर्भिक्षे शत्रुसंकटे ।राजद्वारे स्मशाने च, यः तिष्ठति स बान्धवः ।।1।।"

इति वचनात्। स्वजनोद्धरणं हि तत्त्वत आत्मोद्धरणमेव। यतोऽरघट्टघटीनामिव प्राणिनां प्रायोऽनैकान्तिकी रिक्तता पूर्णता च। ततः कदाचिद्दुर्दैवादात्मनोऽप्युपस्थितायां दुरस्थायामुपकृतचरेभ्यस्तेभ्य एवोद्धृतिः स्यादतः समयं प्राप्य स्वजनोद्धारो विधेय एव।

"खाइज्जपिट्ठिमंसं, न तोसि कुज्जा न सुक्ककलहं च। तदमित्तेहिं मित्तिं, न करिज्ज करिज्ज मित्तेहिं ।।26।।"

शुष्ककलहो हास्यादिना वाग्वादश्चिरप्ररूढप्रीतिलतालवित्ररूपः।

"तयभावे तग्गेहं, न वइज्ज चइज्ज अत्थसंबंधम् ।गुरुदेवधम्मकज्जेसु, एगचित्तेहिं होअव्वम् ।।27।।"

प्रोषितपुरुषे केवलोषितयोषिति स्वजनगृहे एकाकी न प्रविशेत्। स्वजनैः सह द्रव्यव्यवहारोऽपि प्रथमं किञ्चित् प्रणयं प्रपञ्चयन्नपि पर्यन्ते प्रथयत्येव प्रतिपन्थिताम्। तथाह-

" यदीच्छेद्विपुलां प्रीतिं, त्रीणि तत्र न कारयेत् ।वाग्वादमर्थसम्बन्धम्, परोक्षेदारदर्शनम् (भाषणम्) ।।1।।"

ऐहिककार्येष्वपि स्वजनादिभिरेकचित्ततैवायतिहिता। चैत्यादिकार्येषु तु विशिष्य बह्वधीनत्वात्तेषां। तथैव च

निर्वाहशोभादिसम्भवादतस्तानि सर्वसांमत्येन कार्याणि । स्वजनैः सहैक्ये पञ्चाड्गुल्यो ज्ञातम् । यथा लिखनचित्रणादिषु प्रायः सर्वकार्येष्वग्र्या वस्तुदर्शने उत्कृष्टवर्णने परवर्जने चंचूपुटिकादौ च विशिष्य पटुर्गर्विता तर्जनी मध्यमां प्राह 'तव के गुणाः?' तयोक्तम्-'मुख्याहं महती मध्यस्था तन्त्रीगीतातालादिकुशला कार्योत्सुक्ये चप्पुटिकया सङ्केतकृत् तथैव दोषच्छलादिहन्त्री टिप्परिकया शिक्षाकृच्च ।'' एवं तृतीयाप्यूचे-''देवगुरुस्थापनाचार्यसाधर्मिकादीनां नवांगचन्दनपूजामाड्गल्यस्वस्तिकनन्द्याव-र्तादिकरणजलचन्दनवासाद्यभिमन्त्रणादि मदायत्तम् ।'' तुर्याप्यूचे-''अहं सूक्ष्मा कर्णान्तः कण्डूयनादिसूक्ष्मकार्यक्षमा, देहकष्टे छेदादिपीडासहा शाकिन्यादिदोषनिग्रहहेतुः, जापसंखाकरणादौ च धुरि वर्ते । ततस्ताभिर्मिथः सखीत्वमादृत्याक्षिप्तोऽङ्गुष्ठकः प्राह-''रे ! रे ! अहं वो भर्ता मां विना लिखनचित्रणादिकवलग्रहणचिप्पुटिकाचंचुपुटिकाटिप्परिकामुष्टिबन्धग्रन्थिबन्धशस्त्रा-दिव्यापारणश्मश्रुसमारचनकर्त्तनलोचनपिञ्जनवादनधावनकण्डनपेषणपरिवेषणकण्टककर्षणगवादिदाहेजापसङ्ख्याकरणकेशपुष्प ग्रथनपुष्पपूजादि किमपि न स्यात् । वैरिगलग्रहतिलककरणश्रीजिनामृतपानांगुष्ठप्रन-श्रादि मदेकायत्तम् । ततस्तास्तमाश्रित्य सर्वकार्याण्यसाधयन ।

''एमाई सयणोचिअमह, धम्मायरिअसमुचिअं भणिमो । भत्तिबहुमाणपुव्वम्, तेसिं तिसंज्झंपि पणिवाओ ।।''

भक्तिरान्तरी प्रीतिः । बहुमानस्तु वाचिकः कायिकश्च ।

'' तद्दसिअ नीईए, आवस्सयपमुहकिच्चकरणम् च । धम्मोवएससवणम्, तदंतिए सुद्धसद्धाए ।।29।।
आएसं बहु मन्नइ, इमेसि मणसावि कुणइ नावन्नम् । रुंभइ अवन्नवायं, थुइवायं पयडइ सयावि ।।30।।''

अवर्णवादमधार्मिकैर्विधीयमानं यथाशक्ति नियमेन रूणद्धि नोपेक्षते। 'न' केवलं यो महतां विभाषते श्रृणोति तस्मादपि यः स पापभागिति श्रुतेः। 'पयडइ त्ति' समक्षमसमक्षं वाऽगण्यपुण्यानुबन्धित्वात्तस्य।

''न हवइ छिद्दप्पेही, सुहिव्व अणुअत्तए सुहदुहेसु। पडिणीअ पच्चवायं, सव्वपयत्तेण वारेइ ।।31।।''

'सुहिव्व त्ति' सुहृदिवानुवर्तते, तत्सुखेन सुखी तद्दुःखेन दुःखी चेत्यर्थः। ननु कथमप्रमत्तेषु निर्ममत्वेषु च गुरुषु छिद्रान्वेषित्वं सुहृदादयो भावाः श्रावकाणां सम्भवन्ति ? सत्यमीदृशा एव ते परं भिन्नभिन्नप्रकृतीनामुपासकानामुन्मीलन्त्येव तेष्वपि स्वस्वप्रकृतिसमुचिता भावाः। यत्स्थानांगसूत्रम्- ''गोयमा ! चउव्विहा सावया पन्नत्ता-मायापिअरसमाणे भायसमाणे मित्तसमाणे सवक्किसमाणे'' इत्याद्युक्तम् प्राक्। 'पडिणीय त्ति०' प्रत्यनीकोपल्पवं च सर्वशक्त्या वारयति। उक्तं हि-

''साहुणचेइआण य, पडिणीअं तह अवन्नवायं च। जिणपवयणस्स अहिअं, सव्वत्थामेण वारेइ ।।1।।''

अत्र सगरचक्रिपौत्रभगीरथस्य जीवः, प्रान्तग्रामवासिषष्टिसहस्त्रमनुष्यैयात्रार्थिसङ्घेपद्रवे तन्निवारकः कुम्भकारो ज्ञातम्

''खलिअम्मि चोइओ, गुरुजणेण मन्नइ तहत्ति सव्वंपि। चोएइ गुरुजणं पि हु, पमायखलिएसु एगन्ते ।।32।।'

चोएइ त्ति०' भगवन् ! किमिदसमुचितं सच्चरित्रवतां तत्रभवतां भवतां ? इत्यादिना।

''कुणइ विणओवयारं, भत्तीए समयसमुचिअं सव्वम् । गाढं गुणाणुरायं, निम्मायं वहइ हिअयंमि ।।33।।''

'सव्वं त्ति०' सम्मुखागमनाभ्युत्थानासनदानसंवाहनादि शुद्धवस्त्रपात्राहारादिप्रदानादिकं च।

''भावोवयारमेसिं, देसंतरिओ वि सुमरइ सयावि। इअ एवमाइगुरुजणसमुचिअमुचिअं मुणेयव्वम् ।।34।।''

भावोपकारः सम्यक्त्वदानादि ।

''जत्थसयं निवसिज्जइ, नयरे तत्थेव जे किर वसन्ति । ससमाणवत्तिणो ते, नायरयानाम वच्चन्ति ।।35।।''

स्वसमानवृत्तयो वणिग्वत्तिजीविनः ।

''समुचिअमिणमो तेसिं, जमेगचित्तेहिं समसुहदुहेहिं । वसणुसवतुल्लगमागमेहिं निच्चं पि होअव्वम् ।।36।।''

'तुल्ल त्ति०' तद्व्यसनागमे स्वयमपि व्यसनावलीढैरिव तदुत्सवे च सोत्सवैरिव भाव्यम् । अन्यथान्योन्योदासीना नृपनियोगिमृगयूनामामिषमेव पौरलोकाः ।

''कायव्वं कज्जे वि हु, न इक्कमिक्केण दंसणं पहुणो । कज्जे (ज्जो) न मंतभेओ, पेसुन्नं परिहिरेअव्वम् ।।37।।''

महत्यपि कार्ये पृथक् पृथग् महत्त्वेच्छया राज्ञो दर्शनेऽन्यवैमनस्यादयो दोषास्तस्मात्समुदितैरेव तुल्यत्वेऽपि यवनवत्कस्यचिन्मुख्यत्वप्रदानादिना मिथः सापेक्षैर्न पुनर्नृपादेशात्परीक्षार्थमन्त्र्यर्पितैकशय्यशाय्यवलगकपञ्चशतीवदबद्धैर्नृपदर्शनविज्ञप्त्यादि विधेयम् । यत :-

'' बहूनामप्यसाराणां, समुदायो जयावहः । तृणैरावेष्टिता रज्जु-र्यया नागोऽपि बध्यते ।।1।।''

मन्त्रभेदे च कार्यविपत्तिनृपप्रकोपादयो दोषास्तस्मात्संवृत्तमन्त्रैर्भाव्यम् । राजादीनां पुरः परस्परदूषणोद्घोषणे चलब्धमध्य त्वान्नृपाद्यपमानदण्डादयो दोषाः । एकवृत्तीनामसंहतत्वस्य विनाशहेतुत्वात् । पठ्यतेऽपि ।

''एकोदरा पृथग्ग्रीवा, अन्यान्यफलकाङ्क्षिणः । असंहता विनश्यन्ति, भारुण्डा इव पक्षिणः ।।1।।

परस्परस्य मर्माणि, ये न रक्षन्ति जन्तवः। त एव निधनं यान्ति, वल्मीकोदरसर्पवत् ।।2।।

समुवट्ठिए विवाए, तुलासमाणेहिं चेव ठायव्वम्। कारणसाविक्खेहिं, विहुणेअव्वो न नयमग्गो ।।38।।"

'कारण त्ति' स्वजनसम्बन्धिज्ञातेयलञ्चोपकारादिसापेक्षैर्नयमार्गो न विधूनयितव्यः।

"बलिएहिं दुब्बलजणो, सुंककरईहिं नाभिभविअव्वो। थेवावराहदोसे वि, दंडभूमिं न नेअव्वो ।।39।।"

शुल्ककराधिक्यनृपदण्डादिभिरपि हन्यमाना जना मिथो विरक्ताः संहतिमुज्झन्ति। संहतिविनाकृताश्च बलबत्तरा अपि वनसंहतिविरहिताः सिंहा इवाभिभूयन्ते एव। तस्मात्परस्परसंहतिरेव श्रेयस्करी। उक्तं च-

"संहतिः श्रेयसी पुसां, स्वपक्षे तु विशेषतः। तुषैरपि परिभ्रष्टा, न प्ररोहन्ति तण्डुलाः ।।1।।

गिरयो येन भिद्यन्ते, धरा येन विदार्यते। संहतेः पश्य माहात्म्यं, तृणैस्तद्वारि वार्यते ।।2।।

कारणिएहिं पि समं, कायव्वो ता न अत्यसम्बन्धो। किं पुण पहुणा सद्धिं, अप्पहिअं अहिलसंतेहिं ।।40।।"

कारणिकैः श्री व्ययराजदेवधर्मोपपदकरणादिनियुक्तैस्तदुपजीविभिरन्यैरपि सह द्रव्यव्यवहारः कदापि न कार्यः। ते हि धनादानावसर एव प्रायः प्रसन्नमुखरागाः प्रकटितकृत्रिमालापसम्भाषणासनतांबूलप्रदानादिबाह्याडम्बराः सौमनस्यमाविर्भावयन्तः, प्रस्तावे च स्वदत्तमपि वित्तं याचितास्तिलतुषमात्रमपि स्वोपकारं प्रकटमुद्घट्टयन्तस्तदेव दाक्षिण्यमुन्मुञ्चन्ति। स च स्वभाव एव तेषाम्। यतः-

"द्विजन्मनः क्षमा मातुर्द्वेषः प्रेम पणस्त्रियाः । नियोगिनश्च दाक्षिण्यमरिष्ठानां चतुष्टयम् ।।1।।"

पूर्वोपात्तवितनिमनाशाय च कृत्रिमानपि दोषानुत्पाद्य प्रत्युतैतान् नृपतिग्राह्यान् विदधति । यतः-

"उत्पाद्य कृत्रिमान् दोषान्, धनी सर्वत्र बाध्यते । निर्धनः कृतदोषोऽपि, सर्वत्र निरुपद्रवः ।।1।।"

'किं पुण त्ति०' यतः सामान्योऽपि क्षत्रियो वित्तार्थमभियुक्तः खड्गं दर्शयति किं पुनः प्रकृत्यमर्षणाः क्षोणिभुजः? एवं समानवृत्तिनागरवदसमानवृत्तिनागरेष्वपि यथार्हमौचित्यम् चिन्त्यम् ।

"एयं परुप्परं नायराण, पाएण समुचिआचरणम् । पर तित्थिआण समुचिअ,-महकिंपि भणामि लेसेणं ।।41।।
एएसिं तित्थिआणं, भिक्खट्ठमुवट्ठिआण निअगेहे । कायव्वमुचिअकिच्चं, विसेसओरायमहिआणम् ।।42।।"

उचितकृत्यं यथार्हदानादि ।

"जइवि न मणम्मि भत्ती न पक्खवाओ अ तग्गयगुणेसु । उचिअं गिहागएसुति, तहवि धम्मोगिहीण इमो ।।"

पक्षपातोऽनुमोदना । 'धम्मो त्ति' आचारः ।

गेहागयाणमुचिअं, वसणावडिआण तह समुद्धरणम् । दुहिआण दया एसो, सव्वेसिं सम्मओ धम्मो ।।"

पुरुषपेक्ष्य मधुरालपनासननिमन्त्रणकार्यानुयोगतन्निर्माणादिकमुचितम् । दुःखितानां दीनानाथान्धबधिरव्याधितादीनां दया यथाशक्ति तत्प्रतीकारच । ये किलानन्तरोक्ते लौकिकेऽप्युचिताचरणमात्रे कर्मणि न कर्मठास्ते कथं लोकोत्तरे लोकोत्तर-नरसूक्ष्ममतिग्राह्ये च जैने धर्मे प्रवीणाः स्युस्तस्मादवश्यं धर्मार्थिभिरुचिताचरणनिपुणैर्भाव्यम् । अन्यत्राप्यूचे-

"सव्वत्थ उचिअकरणं, गुणाणुराओ रई अ जिणवयणे। अगुणेसु अ मज्झत्थं, सम्मदिट्ठिस्स लिंगाइं ।।1।।
मुञ्चन्ति न मज्जायं, जलनिहिणो नाचला वि हु चलन्ति। न कयावि उत्तमनरा, उचिआचरणं विलंघन्ति ।।45।।"
तेणं चिअ जयगुरुणो, तित्थयरा वि हु गिहत्थभावम्मि। अम्मापिऊणमुचिअं, अब्भुट्ठाणाइ कुव्वन्ति ।।46।।"

इति नवधौचित्यम् ।

अवसरे चोचिंत वचनमपि महत्ते गुणाय। यथा-मल्लिकार्जुनं जित्वा चतुर्दशरैकोटिमुक्ताषण्मूढकचतुर्दशभारमित-द्वात्रिंशद्रैकुम्भशृङ्गारकोटीशाटीमाणिक्यपटविषापहशुक्त्यादितत्कोशढौकनतुष्टः कुमारनृपो मन्त्रिआंबडाय राजपितामहबिरुद कोटीद्रव्यचतुर्विशतिजात्याश्वादि ददे। स तु तत्सर्व गृहादर्वागर्थिभ्यो ददौ। पैशुन्याद्राज्ञः कोपे किं मत्तोऽप्यधिकं दत्से ? इत्युक्तौ तव पिता द्वादशग्रामवासी मम त्वष्टादशदेशस्वामीत्युचितोक्त्या तुष्टो नृपः पुत्रपदं द्विगुणं च प्रसादं तस्मै ददौ। तदवादिष्म-

"दाने याने माने, शयनासनपानभोजने वचने। सर्वत्रान्यत्रापि हि, भवति महारसमयः समयः ।।1।।"

अतः समयज्ञता सर्वत्रौचित्यबीजं-

"औचित्यमेकमेकत्र, गुणानां कोटिरेकतः। विषायते गुणग्राम, औचित्यपरिवर्जितः ।।1।।"

इत्युक्तैः। सर्वमनौचित्यं च त्याज्यं। येन च कृतेन मुर्खत्वव्यपदेशस्तदप्यनुचितमिति परिहार्यम्। तदपि लौकिक-शास्त्रोक्तम् बहूपकारित्वात् प्रदर्श्यते। यथा-

"शृणु मूर्खशतं राजंस्तं, तं भावं विवर्जय। येन त्वं राजसे लोके, दोषहीनो मणिर्यथा ॥१॥ **सामर्थ्ये विगतोद्योगः**, स्वश्लाघी प्राज्ञपर्षदि। वेश्यावचसि विश्वासी, प्रत्ययी दम्भडम्बरे ॥२॥ द्यूतादिवित्तबद्धशः, कृष्याद्यायेषु संशयी। निर्बुद्धिः पौढकार्यार्थी, विविक्तरसिको वणिक् ॥३॥ ऋणेन स्थावरक्रेता, स्थविरः कन्यकावरः। व्याख्याता चाश्रुते ग्रन्थे, प्रत्यक्षार्थेऽप्यपह्नवी ॥४॥ चपलापतिरीर्ष्यालुः, शक्तशत्रुरशङ्कितः। दत्त्वा धनान्यनुशयी, कविना हठपाठकः ॥५॥ अप्रस्तावे पटुर्वक्ता, प्रस्तावे मौनकारकः। लाभकाले कलहकृन्मन्युमान् भोजनक्षणे ॥६॥ कीणार्थः स्थूललाभेन, लोकोक्तौ क्लिष्टसंस्कृतः। पुत्राधीने धने दीनः, पत्नीपक्षार्थयाचकः ॥७॥ भार्याखेदात्कृतोद्वाहः, पुत्रकोपात्तदन्तकः। कामुकस्पर्धया दाताः, गर्ववान् मार्गणोक्तिभिः ॥८॥

धीदर्पान्न हितश्रोता, कुलोत्सेकादसेवकः। दत्वार्थान् दुर्लभान् कामी, दत्त्वा शुल्कममार्गगः ॥९॥ लुब्धे भूभुजि लाभार्थी, न्यायार्थी दुष्टशास्तरि। कायस्थे स्नेहबद्धाशः क्रूरे मन्त्रिणि निर्भयः ॥१०॥ कृतघ्ने प्रतिकार्यार्थी, नीरसे गुणविक्रयी। स्वास्थ्ये वैद्यक्रियाशोषी, रोगी पथ्यपराङ्मुखः ॥११॥ लोभेन स्वजनत्यागी वाचा मित्रविरागकृत्। लाभकाले कृतालस्यो, महर्द्धिः कलहप्रियः ॥१२॥ राज्यार्थी गणकस्योक्त्या, मूर्खमन्त्रेकृतादरः। शूरो दुर्बलबाधायां, दृष्टदोषाङ्गनारपिः ॥१३॥ क्षणरागी गुणाभ्यासे, सञ्चयेऽन्यै कृतव्ययः। नृपानुकारी मौनेन, जने राजादिनिन्दकः ॥१४॥ दुःखे दर्शित दैन्यार्तिः सुखे विस्मृतदुर्गतिः। बहुव्ययोऽल्परक्षायै विषाशनः ॥२५॥ दग्धार्थो धातुवादेन, रसायनरसः क्षयी। आत्मसम्भावनास्तब्धः क्रोधादात्मवधोद्यतः ॥२६॥ नित्यं निष्फलसञ्चारी, युद्धप्रेक्षी शराहतः। क्षयी शक्तविरोधेन, स्वल्पार्थः स्फीतडम्बरः ॥२७॥ पण्डितोऽस्मीति वाचालः, सुमटोऽस्मीति निर्भयः।

उद्वेगजनोऽति स्तुतिर्मर्मभेदी स्मितोक्तिभि: ॥२८॥ दरिद्रहस्तन्यस्तार्थ: सन्दिधेऽर्थे कृतव्यय:। स्वव्यये लेख्यकोद्वेगी, दैवाशा त्यक्तपौरुष: ॥२९॥ गोष्ठीरतिर्दरिद्रश्च, क्षैव्यविस्मृतभोजन: । गुणहीन: कुलश्लाघी, गीतगायी खरस्वर: ॥२०॥ भार्याभयान्निषिद्धर्थी, कार्पण्येनाप्तदुर्दश: । व्यक्तदोषजनश्लाघी, सभामध्यार्द्धनिर्गत: ॥२१॥ दूतो विस्मृतसन्देश: कासवांश्चौरिकारत: । भूरिभोज्यव्यय: कीर्ते: श्लाघायै स्वल्पभोजन: ॥२२॥ स्वल्पभोज्येऽतिरसिको, विक्षिप्तश्छद्मचाटुभि: । वेश्या- सपत्नकलही, द्वयोर्मन्त्रे तृतीयक: ॥२३॥ राजप्रसादे स्थिरधीरन्यायेन विवर्द्धिषु: । अर्थहीनोऽर्थकार्यार्थी, जने गुह्यप्रकाशक: ॥२४॥ अज्ञातप्रतिभू: कीर्त्यै, हीतवादिनि मत्सरी । सर्वत्रविश्वस्तमना न लोकव्ययवहारवित् ॥२५॥ भिक्षुकश्चोष्णभोजी च गुरुश्च शिथिलक्रिय: । कुकर्मण्यपि निर्लज्ज:, स्यान्मूर्खश्च सहासगी: ॥२६॥'' इति मुर्खशतम् ।

अन्यदप्येवंविधं कुशोभाकृत्त्याज्यं ।उक्तञ्च विवेकविलासादौ-

''विज्जृम्भणक्षुतोद्गारहास्यादीन् पिहिताननः । कुर्यात्सभासु नो, नासाशोधनं हस्तमोटनम् ॥१॥ कुर्यात्पर्यस्तिकां नैव, न च पादप्रसारणम् । न निद्रां विकथां नापि, सभायां कुक्रियां न च ॥२॥ प्रस्तावेऽपि कुलीनानां, हसनं स्फुरदोष्टकम् । अट्टहासोऽतिहासश्च, सर्वथानुचितौ पुन: ॥३॥ स्वाङ्गवाद्यं तृणच्छेदं, व्यर्थं भूमेर्विलेखनम् । नैव कुर्यान्नखैर्दन्तनखानामपि घर्षणम् ॥४॥ न गर्व: सर्वथा कार्यो, भट्टादीनां प्रशंसया । व्युत्पन्नश्लाघया कार्य:, स्वगुणानां तु निश्चय: ॥५॥ अवधार्या विशेषोक्ति:, परवाक्येषु कोविदै:। नीचेन स्वं प्रति प्रोक्तं यत्तन्नानुवंदेत्सुधी: ॥६॥ कालत्रयेऽपि यत्किञ्चिदात्मप्रत्ययवर्जितम् । एवमेतदिति स्पष्टं, न वाच्यं चतुरेण तत् ॥७॥ प्रारभ्यते नरैर्यच्च, कार्यं कारयितुं परै: । दृष्टांतान्योक्तिभिर्वाच्यं

तदग्रे पूर्वमेव तत् ॥८॥ यदि चान्येन केनापि, तत्तुल्यं जल्पितं भवेत् । प्रमाणमेव तत्कार्य, स्वप्रयोजनसिद्धये ॥९॥ यस्य कार्यमशक्यं, स्यात्तस्य प्रागेव कथ्यते । नैहिरेयाहिरां कार्यो, वचोभिर्वितथैः परः ॥१०॥ वैभाष्यं नैव कस्यापि, वक्तव्यं द्विषतां तु चेत् । उच्यते तदपि प्राज्ञैरन्योक्तिच्छन्नभङ्गिभिः ॥११॥ मातृपित्रातुराचार्यातिथिभ्रातृतपोधनैः । वृद्धबालाबलावैद्यापत्यदायाद- किङ्करैः ॥१२॥ स्वसृसंश्रितसमन्धिवयस्यैः सार्द्धमन्वहम् । वाग्विग्रहमकुर्वाणो, विजयेत जगत्त्रयीम् ॥१३॥ युग्मम् ॥ न पश्येत् सर्वदादित्यं, ग्रहणं चार्कसोमयोः । नेक्षेतांभो महाकूपे, सन्ध्यायां गगनं तथा ॥१४॥ मैथुनं मृगयां नग्नं, स्त्रियं प्रकटयौवनम् । प्रशुक्रीडां च कन्याया, योनिं चालोकयेन्नहि ॥१५॥ न तैले न जले नास्त्रे, न मूत्रे रुधिरे न च । वीक्षेत वदनं विद्वानित्थमायुस्तुटिर्यतः ॥१६॥ प्रतिपन्नस्य न त्यागः, शोकश्च गतवस्तुनः । निद्राच्छेदश्च कस्यापि, न विधेयः कदाचन ॥१७॥ अकुर्वन् बहुभिर्वैरं, दद्याद् बहुमते मतम् । गतास्वादानि कृत्यानि, कुर्याच्च बहुभिः समम् ॥१८॥ शुभक्रियासु सर्वासु, मुख्यैर्भाव्यं मनीषिभिः । नराणां कपटेनापि, निःस्पृहत्वं फलप्रदम् ॥१९॥ द्रोहप्रयोजने नैव, भाव्यमत्युत्सुकैर्नरैः । कदाचिदपि कर्त्तव्यः, सुपात्रेषु न मत्सरः ॥२०॥ स्वजातिकष्टं नोपेक्ष्यं, तदैक्यं कार्यमादरात् । मानिनां मानहानिः स्यात्तद्दोषादयशोऽपि च ॥२१॥ स्वजातिं ये परित्यज्य, परजातिषु ये रताः । ते नरा निधनं यान्ति, यथा राजा कुकर्दमः ॥२२॥ नश्यन्ति ज्ञातयः प्रायः, कलहादितरेतरम् । मिलिता एव वर्द्धन्ते, कमलिन्य इवांभसि ॥२३॥ दारिद्र्योपद्रुतम् मित्रं, नरं साधर्मिकं सुधीः । ज्येष्ठं ज्ञातिगुणैर्जामिमनपत्यां च यापयेत् ॥२४॥ सारथ्यायान्यवस्तूनां विक्रयाय क्रयाय च । कुलानुचितकार्याय, नोद्यच्छेद् गौरवप्रियः ॥२५॥

महाभारतादावप्येवमुक्तम्-

"ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत, धर्मार्थो चानुचिन्तयेत् । नेक्षेतादित्यमुद्यन्तम्, नास्तं यान्तं कदाचन ॥१॥ उदङ्मुखो दिवा रात्रावुत्सर्ग दक्षिणामुखः । आवाधासु यथाकामं, कुर्यात्मूत्रपुरीषयोः ॥२॥ देवार्चनादिकार्याणि, तथा गुर्वभिवादनम् । कुर्वीत च समाचम्य तद्वदेवभुजिक्रियाम् ॥३॥ अर्थस्योपार्जने यत्नः, कार्य एव विपश्चिता । तत्संसिद्धौ हि सिद्ध्यन्ति, धर्मकामादयो नृप ! ॥४॥ पादेन कार्यं पारत्र्यं, पादं कुर्याच्च सञ्चये । अर्द्धेन चात्मभरणं, नित्यनैमित्तिकान्वितम् ॥५॥ केशप्रसाधानादर्शनं दन्तधावनम् । पूर्वाह्वं एव कार्याणि देवतानां च पूजनम् ॥६॥ दूरादावसथान्मूत्रं, दूरात् पादावसेचनम् । उच्छिष्टोत्सर्जनं, दूरात्सदा कार्यं हितैषिणा ॥७॥ लोष्ठमर्दी तृणच्छेदी, नखवादी च यो नरः । नित्योच्छिष्टः शकृन्मूत्रैर्नेहायुर्विन्दते महत् ॥८॥ न चाऽऽसीतासने भिन्ने, भिन्नकांश्यं च वर्जयेत् । न मुक्तकेशैर्भोक्तव्यमनग्नः स्नानमाचरेत् ॥९॥ स्वप्तव्यम् नैव नग्नेन, न चोच्छिष्टश्च संवसेत् । उच्छिष्टो न स्पृशेच्छीर्ष, सर्वप्राणास्तदाश्रयाः ॥१०॥ केशग्रहान् प्रहारांश्च, शिरस्येतानि वर्जयेत् । नान्यत्र पुत्रशिष्यभ्यां, शिक्षार्थ ताडनं स्मृतम् ॥११॥ न पाणिभ्यामुभाम्यां तु, कण्डयेज्जातु वै शिरः । न चाभीक्ष्णं शिरःस्नानं, काय निष्कारणं नरैः ॥१२॥ न प्रशस्तं निशि, स्नानं राहोरन्यत्र दर्शनात् । न भुक्तोत्तरकालं च, न गम्भीरजलाशये ॥१३॥ दुष्कृतं न गुरोर्ब्रयात्, क्रुद्धं चैतं प्रसादयेत् । परिवादं न शृणुयादन्येषामपि जल्पताम् ॥१४॥ गुरोः पतिव्रतानां च, धर्मतपस्विनाम्। परिवादं न कुर्वीत, परिहासेऽपि भारत ! ॥१५॥ किञ्चित्परस्वं न, हरेन्नाल्पमप्यप्रियं वदेत् । प्रियं च नानृतं ब्रूयान्नान्यदोषानुदीरयेत् ॥१६॥ पतितैश्च कथां

नेच्छेदासनं च विवर्जयेत् । पतितान्नं न रोचेत, पतितैर्न सहाचरेत् ॥१७॥ विद्विष्टपतितोन्मत्तबहुवैरिशठैः सह । बुधो मैत्रीं न कुर्वीत, नैकः पन्थानमाश्रयेत् ॥१८॥ न दुष्टयानमारोहेत्, कूलच्छायां न संश्रयेत् । नावगाहेज्जलौघस्य वेगमग्रेसरो नरः ॥१९॥ प्रदीप्तं वेश्म न विशेन्नारोहेच्छिखरं गिरेः । नासम्वृतमुखो जृम्भेत्, श्वासकासौ च वर्जयेत् ॥२०॥ नोर्ध्व तिर्यग् न दूरं वा निरीक्षेत्पर्यटन् बुधः । युगमात्रं महीपृष्टं, नरो गच्छेद् विलोकयन् ॥२१॥ नोच्चैर्हसत्सशब्दं च, न मुञ्चेत्पवनं बुधः। नखान्न रदनैश्छिन्द्यात्पादं पादेन नाक्रमेत् ॥२२॥ न श्मश्रु भक्षयेच्चो (च्चौ)ष्टान्न गृह्णीयाद्विचक्षणः । नोच्छिष्टो भक्षयेत्किञ्चिन्नाद्वारेण विशेत्क्वचित् ॥२३॥ ग्रीष्मे वर्षासु च च्छत्री, दण्डी रात्रौ वनेषु च । उपानद्वस्त्रमाल्यं च, धृतमन्यैर्न धारयेत् ॥२४॥ न चेर्ष्या स्त्रीषु कर्त्तव्या, दारा रक्ष्याः प्रयत्नतः । अनायुष्या भवेदीर्ष्या, तस्मात्तां परिवर्जयेत् ॥२५॥ पानीयस्य क्रियां नक्तं, तथैव दधि ासक्तवः । वर्जनीया महाराज ! निशीथे भोजनक्रिया ॥२६॥ नोर्ध्वजानुश्चिरं तिष्ठेन्न, भवेदुत्कटासनः । तद्वन्नोपविशेत्प्राज्ञः, पादेनाकृष्य चासनम् ॥२७॥ नातिकल्यं नातिसायं, न च मध्यंदिने तथा । नाज्ञातैः सह गन्तव्यं, नैको न बहुभिः सह ॥२८॥ अवलोक्यो न चादर्शो, मलिनो बुद्धिमन्नरैः । न च रात्रौ महाराज ! दीर्घमायुरभीप्सता ॥२९॥ वर्जयित्वा तु कमलं, तथा कुवलयं नृप ! रक्तमाल्यं न धार्य स्यात्, शुक्लं धार्यं तु पण्डितैः ॥३०॥ अन्यदेव भवेद्वासः, शयनीये नरोत्तम । अन्यदर्चासु देवानामन्यद्धार्य सभासु च ॥३१॥ वाक्पाणिपादचपाल्यं वर्जयेच्चातिभोजनम् । शय्यादीपाधमस्तम्भ- च्छायां दूरेण संत्यजेत् ॥३२॥ न नासिकां विकुष्णीयात्स्वयम् नोपानन्नौ हरेत् । शिरसा न हरेद् भारम्, न प्रधावेत्प्रवर्षति ॥३३॥ भिन्नभाण्डे कलिः प्रायः, खट्वायां वाहनक्षयः । नाश्नन्ति पितरस्तत्र, यत्र कुककुरकुर्कटौ ॥३४॥ सु-

वासिनी गुर्विणी च, वृद्धं बालातुरौ तथा। भोजयेत्संस्कृतान्नेन, प्रथमं चरमं गृही ॥३५॥ अघं स केवलं भुड्क्ते, बद्धे गोवहनादिके । यो भुड्क्ते पाण्डवश्रेष्ठ ! प्रेक्षतामप्रदाय च ॥३६॥ वृद्धो ज्ञातिस्तथा मित्रं, दरिद्रो यो भवेदिह । गृहे वासयित- व्यास्ते गृहवृद्धिमभीप्सता ॥३७॥ अपमानं पुरस्कृत्य, मानं कृत्वा च पृष्ठतः। स्वार्थमभ्युद्धरेत्प्राज्ञः, स्वार्थभ्रंशो हि मूर्खता ॥३८॥ न स्वल्पस्य कृते आदानस्य प्रदानस्य कर्त्तव्य स्य कर्मणः । भूरि, नाशयेन्मतिमान्नरः। एतदेव च पडित्ययत् स्वल्पाद् भूरि रक्षणम् ॥३९॥ क्षिप्रमक्रियमाणस्य, कालः पिवति तद्रसम् ॥४०॥ नाभ्युत्थानक्रिया यत्र, नालापो मधुराक्षरः। गुणदोषकथा नैव, तस्य हर्म्ये न गम्यते ॥४१॥ अनाहूतः प्रविशति, अपृष्टो बहु भाषते। अदत्तमासनं भुडक्ते स पार्थ। पुरूषाधमः ॥४२॥ अशक्तः कुरुते कोपं, निर्धनो मानमिच्छति । अगुणी च गुणद्वेषी, पृथिव्याम् लकुटत्रयम् ॥४३॥ मातापित्रोरभरकः क्रियामुद्दिश्य याचिकः । मृतशय्या प्रतिग्राही, न भूयः पुरुषो भवेत् ॥४४॥ बलीयसा समाक्रान्तौ वैतसीं वृत्तिमाश्रयेत् । वाञ्छम भ्रंशिनी लक्ष्मीं, न भौजङ्गीं कथञ्चन ॥४५॥ क्रमाद्वेतसवृत्तिस्तु, प्राप्नोति महत्तीं श्रियम्। भुजड्गवृत्तिमापन्नो वध ामर्हति केवलम् ॥४६॥ कूर्मः सड्कोचमासाद्य, प्रहारानपि मर्षयेत् । काले काले च मतिमानुतिष्ठेत् कृष्णसर्पवत् ॥४७॥ बलिनापि न बाध्यन्ते, लघवोऽध्येकसंश्रयाः । विपक्षेणपि मरुता, यथैकस्था न वीरुधः ॥४८॥ उच्छेदयन्ति विद्वांसो, वर्द्धयित्वारिमेकदा । गुडेन वर्द्धितः श्लेष्मा, यतो निःशेषतां व्रजेत् ॥४९॥ सर्वस्वहरणे शक्तम्, शत्रुं बुद्धियुता नराः। तोषयन्त्यल्पदानेन, वाडवं सागरो यथा ॥५०॥ शत्रुमुत्पाटयेत्प्राज्ञस्तीक्ष्णं तीक्ष्णेन शत्रुणा। पादलन्गां करस्थेन, कण्टकेनेव कण्टकम् ॥५१॥ अविमृश्य स्वपरयोः शक्तिमुत्तिष्ठते तु यः। सोऽब्दशब्दे शरभवत्, प्रोल्ललन्नङ्भङ्गभाक् ॥५२॥

उपायेन हि तत्कुर्याद्यत्र शक्यं पराक्रमैः । काक्या कनकसूत्रेण, कृष्णसर्पो निपातितः ॥५३॥ नखिनां च नदीनां च, शुड्गिणां शस्त्रपाणिनाम् । विश्वासो नैव कर्त्तव्यः, स्त्रीषु राजकुलेषु च ॥५४॥ सिंहादेकं बकादेकं, शिक्षयेच्चत्वारि कुर्कुटात् । वायसात्पञ्च शिक्षेत, षट् शुनस्त्रीणि गर्दभात् ॥५५॥ प्रभुतकार्यमल्पं वा यो नरः कर्तुमिच्छति । सर्वारम्भेण तत्कुर्यात्, सिंहस्यैकं पदं यथा ॥५६॥ बकवच्चिन्तयेदर्थान्, सिंहवच्च पराक्रमम् । वृकवच्चावलुम्पेत शशवच्च पलायनम् ॥५७॥ प्रागुत्थानं च युद्धं च, संविभागं च बन्धुषु । स्त्रियमाक्रम्य भुञ्जीत, शिक्षेच्चत्वारि कुर्कुटात् ॥५८॥ गूढं च मैथुनं ध ाष्टर्य, काले चालयसड्ग्रहः । अप्रमादमविश्वासं, पञ्चं शिक्षेत वायसात् ॥५९॥ बह्वाशी चाल्पसन्तुष्टः, सुनिद्रो लघुचेतनः । स्वामिभक्तश्चशूरश्च, षडेते श्वानतो गुणाः ॥६०॥ आरूढं तु वहेद्भारं शीतोष्णं न च विन्दते । सन्तुष्टश्च भवेन्नित्यं त्रीणि शिक्षेत गर्दभात् ॥६१॥''

इत्याद्यन्यदपि नीतिशास्त्राद्युक्तम् सर्वमौचित्यम् चिन्त्यम् । यतः-

''हितमहितमुचितमनुचितमवस्तु, वस्तु स्वयं न यो वेत्ति । स पशुः शृड्गविहीनः, संसारवने परिभ्रमति ॥1॥
नो वक्तुं न विलोकितुं, न हसितुं न क्रीडितुं नेरितुम् । न स्थातुं न परीक्षितुं न पणितुं नो राजितुं नार्जितुम् ।
नो दातुं न विचेष्टितुम, न पठितुं नानन्दितुं नैधितुम्, यो जानाति जनः स जीवति कथं निर्लज्जचूडामणिः ॥
अशिंतु शयितुं भोक्तुं, परिधातुं प्रजल्पितुम् । वेत्ति यः स्वपरस्थाने, विदुषां स नरोऽग्रणी ॥3॥''

इति अलम् प्रसड्गेन ।

व्यवहारशुद्ध्यादित्रयेणार्थचिन्तायां ज्ञातम् ।यथा– ''विनयपुरे इभ्यवसुभद्रापुत्रो धनमित्रो बाल्ये पित्रोर्मृत्या धनहान्या निःस्वो दुःखी यौवने कन्याया अप्राप्तौ ह्रिया धनार्जनार्थ गतः। खन्यवादधातुवादरसमन्त्रजलस्थलयात्राविविधवाणिज्युनृपादिसेवादावपि धनप्राप्त्याऽत्युद्विग्नो गजपुरे केवलिनं प्राग्भवं प्रपच्छ। सोऽप्यूचे, विजयपुरे गङ्गदत्तो गृहपतिः कृपणो मत्सरी दानलाभादावन्येषामपि विघ्नकृत्, सुन्दरश्राद्धेन मुनिपार्श्वे नीतः। किञ्चिद्भावाद् दाक्षिण्याच्च प्रत्यहं चैत्यवन्दनापूजादि धर्मकरणम् स्वीचक्रे । कार्पण्यादिना च पूजादौ शिथिलश्चैत्यवन्दनाभिग्रहम् पालितवान् । तत्पुण्येनेभ्यपुत्रस्तव जातोऽस्मांक मिलितश्च। प्रागदुष्कृताच्चातिनिःस्वो दुःखी च-

''यद्यथा क्रियते कर्म, तत्तथैवोपभुज्यते ।सहस्त्रगुणमप्येवं, ज्ञात्वा कुर्याद्यथोचितम् ।।1।।''

ततः स प्रबुद्धो गृहिधर्म प्रपेदे, दिननिशाद्ययामयोर्धर्म एव कार्य इत्यभिग्रहं च। ततः श्राद्धगृहे उत्तीर्णः। प्रातर्मालिकेन सह पुष्पाणि भागेनावचित्य गृहे चैत्ये चार्हन्तं भक्त्यार्चति, द्वितीययामादौ तस्य व्यवहारशुद्धिदेशादिविरुद्धत्यागौचित्याचरणादिविधिना व्यवहरतोऽकृच्छेण भोजनादि स्यात्। एवं यथा यथा धर्मे स्थैर्य तथा तथाधिकाधिकधनमर्जयति धर्मे च व्ययति। क्रमात् पृथग् गृहे स्थितो धर्मिष्ठतया महेभ्यदत्तां कन्यां परिणिन्ये। अन्यदोच्चलति गोकुले गुडतैलादि विक्रेतुं गतो गोकुलाधिपमङ्गारधिया त्यक्तनिधिस्वर्ण दृष्ट्वा 'स्वर्णमिदं कस्मात् त्यज्यते?' इत्यूचे। तेनोक्तम् 'प्राग् वयं पित्रा स्वर्णोक्त्या वञ्चितास्त्वमपि वञ्चयसे?' तेनोक्तम् 'अहं कूटं न ब्रुवे'। सोऽप्याह 'तर्हि गुडादि दत्त्वात्वमेव गृहाण'। ततस्तेन तथा कृतम्। त्रिंशत्सहस्त्रमानेन तेनान्येनापि बहूवर्जितेन स महेभ्यो जज्ञे। अहो तद्भवेऽपि धर्ममाहात्मयम्। अन्येद्युः सुमित्रमहेभ्यगृहे कर्मवशादेकाकी स गतः। तदा

कोटिमूल्यरत्नैः कृतं हारं बहिरमुक्त्वा किञ्चित् कार्येण सुमित्रो मध्ये गत्वा पश्चादागतो हारमदृष्टवाऽत्रान्याभावात्त्वयैवात्त इत्युक्त्वा तं राजकुले निन्ये। तेन जिनार्चासद्दृष्टिसुरकायोत्सर्गपूर्वं दिव्यप्रारम्भे तु रत्नावली सुमित्रस्य ओटितः पतिता। सर्वेषां विस्मयः। ज्ञानी पृष्टःप्राह- ''गङ्गदत्तो गृहपतिस्तद्भार्या मगधा श्रेष्ठिपत्न्याः प्रच्छन्नं लक्षमूल्यं रत्नं जगृहे। तया बहु बहु मार्गणे भार्यामोहाद्गङ्गदत्तः 'तव स्वैरेवात्तम्'' इत्यालं ददौ। ततः सा खिन्ना तापसीभूय व्यन्तरो जज्ञे। मगधा तु मृत्वा सुमित्रः, गङ्गदत्तस्तु धनमित्रः। तेन व्यन्तरेण क्रुधा सुमित्रस्याष्टौ पुत्रा निहताः। रत्नावली संप्रति दृता, अद्यापि सर्वस्वं हरिष्यति। बहुभवेषु वैरं निर्यातयिष्यति। वैरविपाकस्य अहह! दुस्सहदुरन्तत्वम्। आलदानाद्धनमित्रेणालं प्राप्तम्। पुण्याकृष्टसुदृष्टिसुरैस्तद्व्यन्तरात्प्रसह्य रत्नावली मोचिता।'' श्रुत्वेति संविग्नौ नृपधनमित्रौ ज्येष्ठपुत्रं स्वपदे न्यस्य प्रव्रज्य सिद्धौ। इति धनमित्रकथा। इति सप्तमगाथार्थः ॥

तथा परोपकृतो परोपकारे कर्मठः कर्मशूरस्तद्विधौ बद्धकक्ष एव। परोपकृतिपरो हि पुनान् सर्वेषा नेत्रामृताञ्जनम्। निरुपकारी तु तृणादिभ्योऽपि हीनः। यतः-

''क्षय रक्षति चञ्चा, सौधं लोलत्पटी कणान् रक्षा। दन्तात्ततृणं प्राणान्, नरेण किं निरुपकारेण ।।1।।''

सहजसिद्धमेवोपकारकरणमुत्तमानाम्। यतः-

''उपकर्तुं प्रियं वक्तुं, कर्तुं स्नेहमकृत्रिमम्। सज्जनानां स्वभावोऽय, केनेन्दुः शिशिरीकृतः ।।1।।

कस्यः देशात् क्षिपयति तमः सप्तसप्तिः प्रजानां छायां कर्तुं पथि विटपिनामञ्जलिः केन बद्धः।

अभ्यर्थ्यन्ते नवजलमुचः केन वा वृष्टिहेतोर्जात्यैवैते परहितविधौ साधवो बद्धकक्षाः ।।2।।"

तत्र चतुर्धा नराः। केचिन्निष्कारणोपकरिणः?, कोचिच्च प्रत्युपकारकाः २, द्वयेऽप्येते धर्मार्हाः। अपरो द्वौ नैव। यथा-

"ते तावत्कृतिनः परार्थनिरताः स्वार्थाविरोधेन ये, ये च स्वार्थपरार्थसार्थघटकास्तेऽमी नरा मध्यमाः।
तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं यैः स्वार्थतो हन्यते ये तु ध्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे ।।1।।
क्षुद्राः सन्ति सहस्त्रशः स्वभरणव्यापारमात्रोद्यताः स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमानेकः सतामग्रणीः।
दुष्पूरोदरपूरणाय पिबति स्त्रोतः पतिं वाडवो, जीमूतस्तु निदाघसंभृतजगत्सन्तापव्युच्छित्तये ।।2।।
कएवि अन्नस्सुवगारजाए कुणंति जे पच्चुवयारजुग्गम् । न तेण तुल्लो विमलो वि चंदो न चेव भाणू न य देवराया 3

उपकारो द्विधा द्रव्यभावाभ्याम्। यथा-

"दव्वंमि अन्नपाणाइदाणरूवो उ होइ विन्नेओ। नेगंतिओ अणच्चंतिओ (य) जं दव्वओ तेणम् ।।1।।
भावुवयारो सम्मत्तनाणचरणेसु जमिह संठवणम् । सयमप्पणो परस्स य अनियाणं तं जिणा बिंति ।।2।।
जे उण परोवयारं करिसु इह केइ पुरिससद्दला। दिसिवलएसु विसप्पइ तेसिं जसपडहनिग्घोसो ।।3।।
तम्हा सदू सामत्थे, ज इज्ज पुरिसो परोवयारम्मि। पसरइ धम्मो कित्ती, जत्तो भुवणंमि ससि धवला ।।4।।

यथा विक्रमार्कनृपस्य। एकदा राजा राजपाटिकाप्रत्यावृत्तो राजमार्गे कणवीणनपरं दरिद्रं दृष्ट्वा बभाण।
"निअउयरपुरणेवि हु असमत्था किमिह तेहिं जाएहिं" इत्युक्ते रोरः "सुसमत्थावि हु न परोवयारिणो तेहिंवि न

किंपि ॥1॥''ततः-

''तेहिंवि न किंपि भणिए, विक्कमरायेणं रायराएण। दिन्नं मायंगसयं, जच्चसुवन्नस्स दो कोडी ॥1॥''

तथा परोपकारविचारे-

''येषां न विद्या न तपो न दानं, न चापि शीलं न परोपकारः।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूता, मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ॥1॥''

केनचिदुक्ते मृगः प्राह-

''स्वरे शीर्षं जने मांसं, त्वचं च ब्राह्मचारिषु। शृङ्गे योगीश्वरे दद्यान्मृगः स्त्रीषु स्वलोचने ॥1॥''

एकदा श्रीविक्रमो वीरचर्यया नदीतटे परिसरन् ब्राह्मणं नंदीपूरेणापह्रियमाणं दृष्ट्वा परोपकृतिरसिकः समुत्तारयामास। ब्राह्मणेन श्रीगिरौ देवताराधनाल्लब्धा कृष्णचित्रवल्ली राज्ञेऽर्पिता। राजा तामादायोज्जयिनीं प्रत्यागच्छन् मार्गे दरिद्रं दृष्ट्वा कृपापरस्तस्मै दत्तवान्। ततो विप्रेण पठितम्-

''यो दुर्लभा कृष्णकचित्रवल्लीं, ददौ दरिद्राय दयार्द्रचित्तः।
कस्तेन तुल्यो भुवि विक्रमार्क ! त्वयापरः स्यात् प्रवरोपकारे ॥1॥''

यद्यचेतना अप्येवमुपकर्त्तार :-

''स्थानभ्रंशखराधिरोपणशिरश्चिखिल्लसन्धारणशुष्यत्पांशुनिवेशपादहननक्लेशभ्रमाद्याः क्रियाः।

धात्रा यद्यपि चक्रिरे मृदि तथाऽप्युर्वीभवत्वादियं पात्रीभूय परोपकारकृतिभूर्युक्तं कुलीने ह्यदः ।।1।।"
"धूलिक्षेपनखक्षतातुलतुलारोहावरोहस्फुरल्लोहोद्घट्टनपिञ्जनादिविविधक्लेशान् सहित्वाऽन्वहम् ।
जज्ञे यः परगुह्यगुप्तिकृदिह श्रित्वा गुणोल्लासितां, कर्पासः स परोपकाररसिकेष्वाद्यः कथं नो भवेत् ।।2।।"

तदा सचेतसां किमुच्यते-

"सव्वधम्माण परमो परोवयारो जिणेहिं पन्नतो। सयलसुरासुरलच्छीसिवसुहदाणिक्ककप्पतरू ।।1।।
सो उवयारो दुविहो, दव्वे भावे अ होइ नायव्वो। कायव्वो सव्वेसिं, जहजोगं धीरपुरिसेहिं ।।2।।
दीणाणमणाहाणं, संपयरहियाण छुहियतसियाणम्। अणुकंपं काऊणं नियसामत्थाणुसारेण ।।3।।
तवनियमनाणदंसणगुणदिन्ताणं पराइ भत्तीए। दव्वे असणाईणं दाणेण परेसिमुक्यरणम् ।।4।।
भावे अ नाणदंसणचरित्तसंपायणेण सत्ताणम्। दुक्खत्ताणं परमोवयारकरणेण य विहेओ ।।5।।
किन्तु सुकुलप्पसूया थिरगंभीरा भविस्सभद्दा य। परमुवयरिउं पारन्ति उत्तमा परमसत्ता य ।।6।।
भावोवयारकारीण निव्वुइ च्चिय फलं पसिद्धमिणम्। दव्वेक्ववयारिणोवि हु फलमउलं भरहरन्नुव्व ।।7।।"

तथान्तरङ्गश्वासावरिषड्वर्गश्च अन्तरङ्गरिषड्वर्गः, तस्य परिहारोऽनासेवनम्, तत्र परायणस्तत्परः। तत्रायुक्तितः प्रयुक्ताः कामक्रोधलोभमानमदहर्षाः शिष्टगृहस्थानामन्तरङ्गारिषड्वर्गः। उक्तञ्च-

"कामः क्रोधस्तथा लोभो हर्षो मानो मदस्तथा। षड्वर्गमुत्सृजेदेनं, तस्मिंस्त्यक्ते सुखी भवेत् ।।1।।"

तत्र परपरिगृहीतास्वनूढासु वा स्त्रीषु दूरभिसन्धिः कामः । स च रावणसाहसगतिपद्मनाभादिवद्विवेकराज्यभ्रंशनरकपातादि हेतुः । यदुक्तम्-

"तावन्महत्त्वं पाण्डित्यं, कुलीनत्वं विवेकिता । यावज्जवलति चित्तान्तर्न पापः कामपावकः ।।1।।
दृश्यं वस्तु परं न पश्यति जगत्यन्धः पुरोऽवस्थितम्, कामान्धस्तु यदस्ति तत्परिहरन् यन्नास्ति तत्पश्यति ।
कुन्देन्दीवरपूर्णचन्द्रकलशश्रीमल्लतापल्लवानारोप्यशुचिराशिषु प्रियतमागात्रेषु यन्मोदते ।।2।।
नान्यः कुतनयादाधिर्व्याधिर्नान्यः क्षयामयात् । नान्यः सेवकतो दुःखी, नान्यः कामुकतोऽन्धलः ।।3।।"

परस्यात्मनो वापायमविचार्य क्रोधः । स न युक्तो दुर्गतिहेतुत्वाच्चण्डकौशिकादीनामिति कृत्वा महात्मनाम् । यतः-

"सन्तापं तनुते भिनत्ति वियं सोहार्दमुच्छादयत्युदवेगम्, जनयत्यवद्यवचनं सूते विधत्ते कलिम् ।
कीर्तिं कृतन्ति दुर्गतिं वितरति व्याहन्ति पुण्योदयम्, दत्ते यः कुगतिं स हातुमुचितो रोषः सदोषः सताम् ।।1।।
अपनेयमुदेतुमिच्छता तिमिरं, रोषमयं धिया पुरः । अविभिद्य निशाकृतं तमः प्रभया, नांशुमताऽप्युदीयते ।।2।।
जितरोषरया महाधियः सपदि, क्रोधजितो लघुर्जनः । विजितेन जितस्य दुर्मतेर्मतिमद्भिः सह का विरोधिता ।।3।।

द्रुमोद्भवं हन्ति विषं नहि द्रुमं, न वा भुजङ्गप्रभवम् भुजंगमम् ।
अदः समुत्पत्तिपदं दहत्यहो ! हंहोल्वणं क्रोधहलाहलं पुनः ।।4।।"

दानार्हेषु स्वधनाप्रदानं निष्कारणं परधनग्रहणं वा लोभः। लोभमूलानि पापानि लोभनन्द्यादीनामिति श्रुत्वा सकलपापमूलमेषः। एतेन व्याकुलिता एवं विचेष्टन्ते-

लोभः सदा विचिन्त्यो, लुब्धेभ्यः सर्वदा भयं दृष्टम्। कार्याकार्यविवेको, द्रविणविलुब्धेषु नास्त्येव ॥१॥ मायाविनिमयनिह्नवविभ्रमवैचित्यकूटकपटानाम्। संचयदुर्गपिशाचः, सर्वहरो मूलकारणं लोभः ॥२॥ क्रयविक्रयकूटतुलालाघवनिक्षेपभक्षणव्याजैः। एते हि दिवसचौरा, मुष्णन्ति महाजने वणिजः ॥३॥ हृत्वा धनं जनानां दिनमखिलं विविधवचनरचनाभिः। वितरति गृहे किराटः कष्टेन वराटिकात्रितयम् ॥४॥ आख्यायिकानुरागी व्रजति, सदा पुण्यपुस्तकं श्रोतुम्। दष्ट इव कृष्णसर्पैः पलायते दानधर्मेभ्यः ॥५॥ न ददाति प्रतिवचनं, विक्रयकाले शठो वणिग् मौनी। निक्षेपशब्दमात्रं, श्रुत्वा सम्भाषणं कुरुते ॥६॥ उत्तिष्ठति नमति वणिग्, पृच्छति कुशलं ददाति च स्थानम्। निक्षेपपाणिमात्रं दृष्टवा, धर्म्याः कथाः कुरुते ॥७॥ त्वदधीनं स्थानमिदं किं तु, चिरं न्यासपालनं कष्टम्। विषमौ च देशकालौ साधो ! तव तदपि दासोऽहम् ॥८॥ भद्रा न दूषितैषा, निक्षेपे क्षेमकारिणी शस्ता। इत्यनुभूतं बहुशः, कार्यज्ञैस्त्वं न जानासि ॥९॥ इत्यादिमुग्धबुद्धेरसमुञ्जसवर्णनां मिथः कृत्वा। गृह्णाति कनकनिकरं, नृत्यन्नन्तर्मनोरथैः पापः ॥१०॥ तत्संचूर्णनजातक्रयविक्रयलाभराशिभिरनन्तैः। भारण्डपतिर्भाण्डचयैरुपहसति धनादिनाथं सः ॥११॥ दानोपभोगविरहितहिरण्यरक्षाकृतक्षणाः सततम्। संसारजीर्णमन्दिरविषम महामूषकाः कृपणा ॥१२॥ अथ पुरुषः स दिगन्तं, भ्रात्वा केनापि दैवयोगेन। नष्टधनो जनरहितः, प्राप्तः सुचिरान्निजं देशम् ॥१३॥ पृच्छति कमपि सशङ्क, स किराटः क्व नु गतो महासत्त्वः। समुपेत्य वदति कश्चित्तस्याद्य विभूतिरन्यैव

॥१४॥ श्रुत्वैतदतुलविस्मयलोलितमौलिः स तद्गृहं गत्वा। द्वारि स्थगितस्तिष्ठति, निष्प्रतिभो जीर्णकर्पटः सुचिरम् ॥१५॥ उपसृत्य मन्दमन्दं कथमपि संप्राप्तनिर्जनावसरः। तं याचते स पुरुषः, स्वद्रविणं प्रकटिताभिज्ञः ॥१७॥ तं वदति सोऽन्यदृष्टिः, सभ्रूभङ्ग विधूतहस्ताग्रः। वञ्चकवदनः पापों, वृत्तिक्षीणः कुतोऽयमायातः ॥१७॥ कस्त्वं कस्य सुतो वा, दर्शनमपि न स्मरामि किं कथनैः। अहह कदा कुत्र कथं वद, केन किमर्पितम् कस्य ॥१८॥ तदपि सतताभिशङ्की प्रत्याय्योऽयं जनः सदा महताम्। कथय दिनं तद्दिवसे, लिखितं सर्व स्वयं पश्य ॥१९॥ वृद्धोऽहं न्यस्तभरः पुत्रे, सर्वस वेत्ति लिखितं मे। इति तेन विनष्टधृतिः, स विसृष्टस्तत्सुतान्तिकं याति ॥२०॥ तातो जानाति धनं, पुत्रो जानाति लिखितमखिलं यत्। इति तस्य भवति सुचिरं, गतागतं कन्दुकस्येव ॥२१॥

एवं राजकुलव्यवहारेऽपि म्रियते परं वित्तलेशमपि न दत्ते। एवं न विमृशति-

''कस्य न दयितं चित्तं ह्रियते न कस्य वित्तेन। किं तु यशोधनलुब्धा, वाञ्छन्ति न दुष्कृतैरर्थान् ॥1॥
उत्सृज्य साधुवृत्तं, कुटिलधिया वञ्चितः परो येन। आत्मैव मूढमतिना, हतसुकृतो वञ्चितस्तेन ॥2॥
नीचस्यापि चिरं चटूनि, रचयन्त्यायान्ति नीचैर्गतिम्, शत्रोरप्यगुणात्मनोऽपि विदधत्युच्चैर्गुणोत्कीर्तनम्।
निर्वेदं न विदन्ति किञ्चिदकृतज्ञस्यापि सेवाकृते, कष्टं किं न मनस्विनोऽपि मनुजाः कुर्वन्ति वित्तार्थिनः ॥3॥
प्रीतिं न प्रकटीकरोति सुहृदि द्रव्यव्ययाशङ्कया, भीतः प्रत्युपकारकारणभयान्नो गृह्यते सेवया।
मिथ्या जल्पति वित्तमार्गणधिया स्तुत्याऽपि न प्रीयते, कीनाशो विभवव्ययव्यतिकरत्रस्तः कथं प्राणिति ॥4॥

महीयसाऽपि लाभेन, न लोभः परिभूयते। मात्रासमधिकः कुत्र, मात्राहीनेन जीयते ।।5।।

दुरभिनिवेशामोक्षो युक्तोक्ताग्रहणं वा मानः। अविचारिततत्त्वातत्त्वानां कदाग्रहिणां दुर्योधनादीनामेवायं भवति। यतः-

''आग्रही बत ! निनीषति युक्तिं यत्र तत्र मतिरस्य निविष्टा ।
पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम् ।।1।।

औचित्याचरणम् विलुम्पति पयोवाहं नभस्वानिव, प्रध्वंसं विनयं नयत्यहिरिव प्राणस्पृशां जीवितम् ।
कीर्तिं कैरविणीं मतङ्गज इव प्रोन्मूलयत्यञ्जसा, मानो नीच इवोपकारनिवहं हन्ति त्रिवर्गं नृणाम् ।।3।।

दृग्भ्यां विलोकते नोर्ध्वं सप्ताङ्गश्च प्रतिष्ठितः। स्तब्धदेहः सदा सोष्मा मान एव महागजः ।।3।।''

एतत्परित्याग ए केवलोत्पत्तिर्बाहुबलेरिव ४। बलकुलैश्वर्यरूपविद्यादिभिरहङ्कारकरणं, परप्रधर्षनिबन्धनं वा मदः। यतः- एकः सकलजनानां हृदयेषु, कृतास्पदो मदः शत्रुः। येनाविष्टशरीरो न शृणोति, न पश्यति स्तब्धः ॥१॥ मौनं वदनविकूणनमूर्द्धेक्षणमतिनिमीलनम् चाक्ष्णोः। गात्रविमोटनवेष्टनमग्ग्रयं रूपं मदस्यैतत् ॥२॥ शौर्यमदो रूपमदः श्रृंगारमदः कुलोन्नतिमदश्च। विभवमदमूलजाता मदवृक्षा देहिनामेते ॥३॥ शौर्यमदो भुजदर्शी, रूपमदो दर्पणादिदर्शी च। काममदः स्त्रीदर्शी विभवमदस्त्वेष जात्यन्धः ॥४॥ अन्तः सुखरसमूर्छामीलितनयनः समाहितध्यानः। धनमद एव नराणामात्मारामोपमः कोऽपि ॥५॥ सततं भ्रकुटीकरालः परूषाक्रोशी हठाभिघातपरः। अधिकारमदः पुंसां सर्वाशी राक्षसः क्रूरः ॥६॥ पूर्वपुरुषप्रतापप्रसृतकथो विस्मृतान्यनिजकृत्यः। कुलमद एकः पुंसामदीर्घदर्शी महाज्ञानः ॥७॥ सावधयः सर्वमदा निजनिजमूलक्षये-

र्विनश्यंति । गुरूमद एकः कुटिलो विजृम्भते निरवधिर्भोगी ॥८॥ मौने सामन्तानां निःस्पन्ददृशि प्रवृद्धविभवानाम् । भ्रूभङ्गमुखविकारे धनिकानां भ्रूयुगे विटादीनाम् ॥९॥ जिह्वासु दूतविदूषां रूपवतां दशनकेशवेशेषु । वैद्यानामोष्ठपुटे ग्रीवायां गुरूनियोगिगणकानाम् ॥१०॥ स्कन्धतटे सुभटानां हृदये वणिजां करेषु शिल्पवताम् ।.....स्तनतटेषु तरूणीनाम् ॥१॥ उदरे श्राद्धार्हाणां जडधासु च लेखहारकपटानाम् । गण्डेषु कुञ्जराणां, बर्हे शिखिनाम् गतेषु हंसानाम् ॥१२॥

न युक्तश्चैष सर्वथा महोन्नतचेतसाम् ॥ यतः-

''नो निर्जित्य जरां स्वभावमधुरं तारुण्यमास्वादितम्, नो निर्जित्य यमं कृता निजतनुः कल्पान्तसंस्थायिनी । नो दारिद्र्यभुजङ्गमाज्जगदिदं स्वैश्वर्यतो मोचितम् । किम् माद्यन्ति विपश्चितोऽपि हि मुधा विद्यालवाद्यैर्गुणैः दिग्वासाश्चन्द्रमौलिर्वहति रविरयं वाहवैषम्यकष्टम्, राहोरिन्दुश्च शङ्कां निवहति गरुडान्नागलोकश्च भीतः । रत्नानां धाम सिन्धुः कनकगिरिरयं वर्ततेऽद्यापि मेरुः, किं दत्तं ? रक्षितं किं ? ननु किमिह जगत्यर्जितं येन गर्वः

भर्तृहरिः ।

''पातालान्न समुद्धृतो बत ! बलिर्नीतो न मृत्युः क्षयंनोन्मृष्टम्, शशिलाञ्छनस्य मलिनं नोन्मूलिता व्याधयः शेषस्यापि धरां विधृत्य न कृतो भारावतारः क्षणं, चेतः सत्पुरुषाभिमानगणनां मिथ्या वहल्लजसे ।।3।।''

निर्निमित्तं परदुःखोत्पादनेन स्वस्य पापर्द्धिद्यूताद्यनर्थसंश्रयेण वा मनःप्रमोदो हर्षः। अयञ्च दुर्ध्यानानुगतचित्ताना-मधमाधमानामेव सुलभः । यतः-

"परवसणं अभिनंदइ निरक्खो निद्दओ निरवणुतावो। हरिसिज्जइ कयपावो रुद्दज्झाणोवगयचित्तो ।।1।।
तुष्यन्ति भोजनैर्विप्रा, मयूरा घनगर्जितैः। साधवः परकल्याणैः, खलाः परविपत्तिभिः ।।2।।"

एतेषां च परिहार्यत्वमिह विवेकिजननिन्द्यत्वादयशोऽनर्थहेतुत्वात्परत्र दुर्गतिकारणत्वाच्चेति।

"आन्तरं षडरिवर्गमुदग्रं, यस्त्यजेदिह विवेकमहीयान्। धर्मकर्मसुयशःसुखशोभाः, सोऽधिगच्छति गृहाश्रमसंस्थः

तथा वशीकृतः स्वच्छन्दतां त्याजित इन्द्रियग्रामो येन स तथा। अत्यन्तासक्तिपरिहारेण स्पर्शनेन्द्रियादिविकारनिरोधकः। इन्द्रियजयो हि पुंसां परमसंपद्धेतुः यतः-

"आपदां कथितः पन्था इन्द्रियाणामसंयमः। तज्जयः संपदां मार्गो येनेष्टं तेन गम्यताम् ।।1।।
इन्द्रियाण्येव तत्सर्वं, यत्स्वर्गनरकावुभौ। निगृहीतविसृष्टानि, स्वर्गाय नरकाय च ।।2।।
जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते। गुणानुरागेण जनोऽनुरज्यते जनानुरागप्रभवा हि सम्पदः

रणजयादपीन्द्रियजयो महान्। यथा-

"शतेषु जायते शूरः, सहस्त्रेषु च पण्डितः। वक्ता शतसहस्त्रेषु, दाता भवति वा न वा ।।1।।
न रणे निर्जिते शूरो विद्यया न च पण्डितः। न वक्ता वाक्पटुत्वेन, न दाता धनदायकः।।2।।
इन्द्रियाणां जये शूरो, धर्मं चरति पण्डितः। सत्यवादी भवेद्वक्ता, दाता भीताभयप्रदः।।3।।
इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन, दोषमृच्छत्यसंशयम्। संनियम्य तु तान्येव, ततः सिद्धिमवाश्नुते ।।4।।

॥व्यवहारशुद्धिप्रकाशग्रन्थसम्पूर्णम्॥

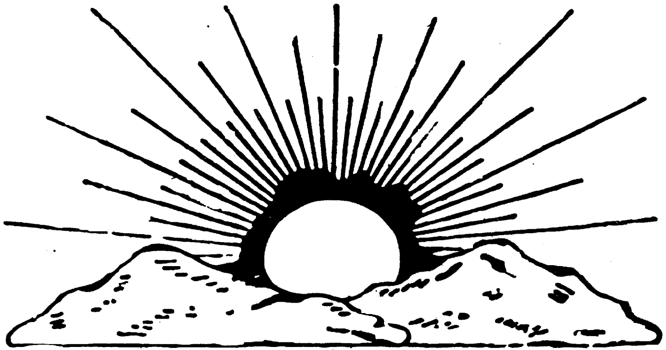

रथः शरीरं पुरूषस्य सृष्टमात्मा नियन्तेन्द्रियाण्यस्य चाश्वा
तैरप्रमत्तैः कुशलैः सदश्वैर्दान्तः सुखी याति पथीव धीरः ।।5।।"

चक्षुरिन्द्रियजये श्रीलक्ष्मणः। सीतायाः कुण्डलादिप्रश्ने लक्ष्मणवचः-

"कुण्डले नाभिजानामि, नाभिजानामि कङ्कणे। नूपुरे त्वभिजानामि, नित्यं पादाब्जवन्दनात् ।।1।।"

तथा सकलेन्द्रियजलमूयकारणं रसनेन्द्रियजयः। तज्जयस्तु तादृगाहारव्याहारव्यवस्थया कार्यः। आहारोऽनिन्द्यकर्मसंपन्नपरिमितः कुशलक्रियाप्रवृत्त्यर्थमाहारायितव्यः। यतः-

"आहारार्थं कर्म कुर्यादनिन्द्यं भोज्यं कार्यं प्राणसन्धारणाय ।
प्राणा धार्यस्तत्त्वजिज्ञासनाय, तत्त्वं ज्ञेयं येन भूर्यो न भूयात् ।।1।।"

अत्याहारेण नवनवमनोरथप्रवृद्धिः प्रबलनिद्रोद्रयः सतताशुचिता, देहावयवगौरवम्, समग्रक्रियोपरमः, प्रायः सरोगताचेति कृत्वा निरन्तरमतृप्तमेव स्थाप्यं रसनेन्द्रियम्। अस्मिन्नतृप्तेऽपराणि तृप्तान्येव स्वस्वविषयप्रवृत्तेः। यतः-

"यत्तत्क्रिया हि काव्येन, काव्यं गीतेन बाध्यते। गीतं च स्त्रीविलासेन, स्त्रीविलासो बुभुक्षया।।1।।"

तृप्ते च सर्वाण्यतृप्तान्येव स्वविषयप्रकृत्यौत्सुक्यदर्शनात्। वचनव्यवस्थाऽपि-

"महुरं निउणं थोवं, कज्जावडियं अगव्वियमतुच्छम्। पुव्वमइसंकलियं, भणन्ति जं धम्मसंजुत्तम् ।।1।।"

इत्यादियुक्त्या आहारस्थितेर्वचनस्थितिरधिका। आहारस्तु विकृतिं गतोऽपि भेषजादिप्रयोगतो निवर्तते। वचनविकारस्तु

आजन्मावधि हृदयान्नोत्तरति। अत्रोक्तम्-

"जिह्वे प्रमाणं जानीहि, भोजने वचने तथा। अतिमुक्तमतीवोक्तं, प्राणिनां प्राणनाशकम् ।।1।।"

जितेन्द्रियो हि पुमान् न कुतोऽपि विभेति। यतः-

"यस्य हस्तौ च पादौ च, जिह्वा च सुनियन्त्रिता। इन्द्रियाणि सुगुप्तानि, रुष्टो राजा करोति किम्? ।।1।।
एवं जितेन्द्रियो मर्त्यो, मान्यौ मानवतां भवेत्। सर्वत्रास्खलितो धर्मकर्मणे चापि कल्पते ।।2।।"

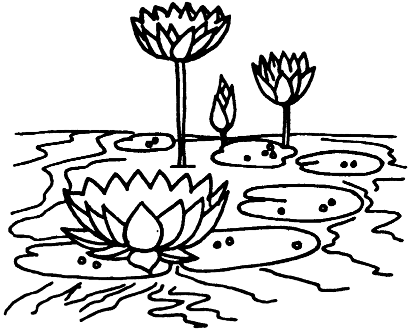

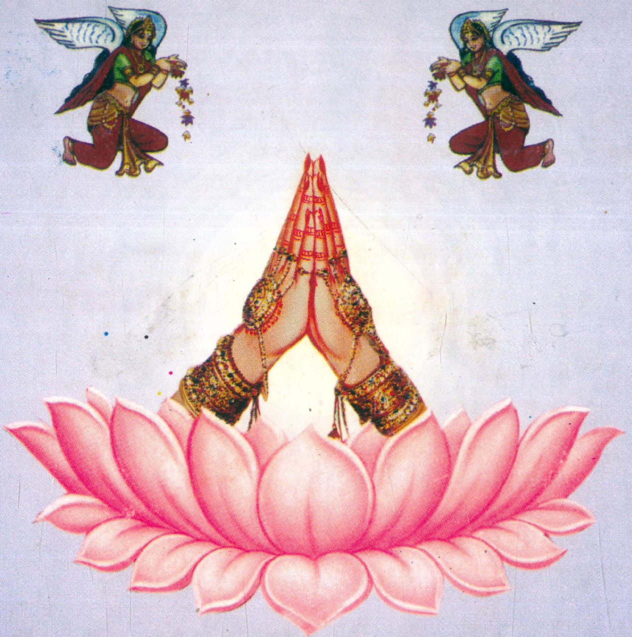

पंकज प्रिन्टर्स फालना 233041